जीवन-रेखाएँ

[प्रगतिशील बोधात्मक गद्य-काव्य]

लेखक
नरोत्तमलाल गुप्त 'नरेंद्र' साहित्यरत्न

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द २)] सं० २००० वि० [सादी १।)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

वक्तव्य

श्रीनरेंद्रजी के लेख आरंभ से ही हिंदी में एक नवीन शैली एवं अनूठी भाव-व्यंजना की प्रगति करते आए हैं। 'जीवन-रेखाएँ' पुस्तक भी इसी ढंग की है। इसमें मानवीय कार्य-कलापों की भावमय झाँकी है। ये झाँकियाँ रहस्यवाद की भाँति गूढ़ भी नहीं, और गल्प की भाँति सरल भी नहीं। दोनो के बीच में इनका स्थान है। इसी कारण लेखक ने इन्हें 'बोधात्मक गद्य-काव्य' के नाम से संबोधित किया है। इनमें मानवीय हृदय की रागात्मिका वृत्तियों का समन्वय मनुष्य के मस्तिष्क-जन्य विचारों के साथ हुआ है। प्रत्येक रेखा बोधगम्य एवं हृदयस्पर्शी है। यही कारण है कि काग़ज़ की कठिनाई होते हुए भी मैं इस पुस्तक को प्रकाशित करके हिंदी-पाठकों के सम्मुख श्रीनरेंद्रजी की नवीन एवं सुंदर कृति रख रही हूँ। आशा है, पाठकगण इससे यथेष्ट लाभ उठाएँगे।

कवि-कुटीर
वसंत-पंचमी, १९९९

सावित्री दुलारेलाल (एम० ए०)

दो शब्द

पशुओं के लिये जीवन एक आवश्यकता है, मनुष्यों के लिये जीवन व्यसन है। पर जीवन-तत्त्व मनुष्य और पशुओं तक ही सीमित नहीं, सृष्टि का अणु और अपराणु तक उस तत्त्व से अनुप्राणित है। वहाँ जीवन आवश्यकता के धरातल से भी उतरकर सत्ता-मात्र रह जाता है—सृष्टि के अपराणु के लिये जीवन सत्ता है। मानव उस सत्ता, फिर आवश्यकता से भी आगे पद रखने पर जीवन को जीवन समझता है। सत्ता से आत्म-अस्तित्व, आवश्यकता से कायिक अपेक्षाएँ मानव को मिलती हैं, पर जिस जीवन को मानव-जीवन कहते हैं, वह क्या इन्हीं दोनो तक बँधकर रह जाता है? इनमें जो जीवन है, और इनमें भी जीवन है ही, उस जीवन को आत्मसात् किए हुए मानव की आगे बढ़ने, विकास पाने, प्रकाश पाने और कुछ होने (becoming) की चाह में, वह है। दर्शन को लिए दार्शनिक चलता है—वह जीवन की शुद्ध सत्ता की खोज में है, विज्ञान की प्रयोगशाला को लिए वैज्ञानिक भूत सत्ता की अंतिम और प्रथम इकाई को पकड़कर बैठ गया है।

विद्युदणु तक जीवन की उस सत्ता को उसने जान पाया है। ये दोनो जीवन-स्रोत के उद्गम की खोज में प्रवृत्त आज और उससे आगे कल के जीवन के मार्ग पर नहीं चलते, लौटकर जीवन जहाँ से आया है और चला है, वहाँ ये जाना चाहते हैं, और जीवन की अंतिम परिसमाप्ति पर भी, ये जीवन की सारी गति और विस्तार को अवहेलित कर किसी नित्य-शाश्वत-अच्युत-अटल इकाई में उसकी परिणति मान उठते हैं, और किसी अनंत में ही जीवन-धारा के आदि और अंत दोनो को मिला देते हैं। वहीं वे सारे पुरुषार्थ का उपयोग मानते हैं—दोनो ही सत्ता की अवस्था में ही जीवन की पूर्णता मानते हैं।

पर दार्शनिक तत्त्वज्ञों और वैज्ञानिक शोधकों के अतिरिक्त भी ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने जीवन को सत्ता से हटकर भी जानने का उद्योग किया है। कुछ 'आवश्यकता' में जीवन मानने लगे—उन्होंने मानव को 'पशु' बना दिया। कुछ ने मानव-जीवन की विविध संभावनाओं और शक्तियों की परीक्षा की, और जीवन में अजस्र और अनंत शक्ति के दर्शन किए—जीवन को तब उन्होंने ब्रह्ममय कह दिया—उसे सर्व-शक्तिसत्ता के क्षेत्र में पहुँचा दिया। यहीं पर जीवन ने व्यसन का रूप धारण किया। हम इसलिये नहीं जीवत हैं कि हमें अपनी मूल-आवश्यकताएँ पूर्ण करनी हैं। हम इसलिये जीवित

हैं कि जीवन का उपभोग, जीवन का उपयोग, जीवन का उद्योग हमें आकर्षित किए ले रहा है, और जैसे-जैसे जन्म से मृत्यु तक के बीच के अवकाश में प्रतिपल जागरूक होकर अपने पग पल-पल बढ़ाते चलते हैं, वैसे ही उसमें न-जाने क्या-क्या हमें बिरमाने, बिरुझाने, उलझाने और रिझाने के लिये मिलता है कि हम उन्हीं में मग्न होकर जीवन—मानव-जीवन के पवित्रतम, महत्तम और सुंदरतम स्वरूप को समझ पाते हैं, और तब मानव का जीवन पाने के वास्तविक गौरव का अनुभव करते हैं। वहाँ हम जानते हैं, ज्ञान प्राप्त कर और उसके उपयोग से विविध शक्तियों का संचय करने और शक्तियों के अहंकार में उन्हें 'आवश्यकताओं' के लिये आहुत कर देने में मानव-जीवन की कृतार्थता नहीं, यह तो उस जीवन की सबसे भारी ट्रैजेडी है, विडंबना है। उस ज्ञान से अथवा शक्ति से अमानवीय होने में—'देवत्व' अथवा 'राक्षसत्व' पा लेने में भी मानव-जीवन का जीवन-तत्त्व विक्षुब्ध हो जाता है। मानव - जीवन को मानवीय रखने में ही जीवन की सफलता है—कला का यही उद्देश्य है, यही 'कला' है।

कला यदि कला है, तो वह मानव की शक्ति-संपदा को इधर-उधर के भ्रम से बचाकर महान् मानवत्व की उपलब्धि में ही लगाती रहेगी। वह सत्य, शिव अथवा सुंदर की व्याख्या

अथवा शोध में लगकर किसी संकोच में क्यों पड़ेगी ? जीवन से ही सत्य है, जीवन में ही सत्य है, जीवन से ही शिव है, जीवन में ही शिव है, जीवन से ही सुंदर है, जीवन में ही सुंदर है—जीवन दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और अन्य उन्हीं-जैसों के लिये किसी भिन्न अंतिम पद के लिये साधन हो सकता है, यह कला ही है, जिसके लिये जीवन साध्य है। उसी में उसे सत्य-शिव-सुंदर के दर्शन हो लेते हैं, और उसी के लिये वह उनका दर्शन करती है; उसी में उसे सत्, चित् और आनंद मिल जाता है, और उसी के लिये जीवनमय जग कला के समक्ष जगमगाने लगता है।

कला के इसी रूप का साक्षात्कार करने का प्रयत्न हमारे समक्ष 'जीवन-रेखाएँ' रखती हैं।

इस जगमगाते जग-जीवन को कला किस प्रकार ग्रहण करे ?—यह प्रश्न है। साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि साहित्यकारों के एक वर्ग ने जग-जीवन के भावुकतामय पक्ष को सत्य और शाश्वत मानकर उसी को साहित्य में प्रधानता दी। उनके इस प्रयत्न ने जिस अवस्था में पहुँचकर गंभीर अध्ययन के लिये विद्वानों को आकर्षित किया, और इस विषय को शास्त्र का रूप दिया, उस समय कुछ रूढ़ होकर यह संप्रदाय 'रस' संप्रदाय के नाम से जाना गया। 'रस' तब

जीवन के तत्त्वों से हटकर विशेष भावों को जाग्रत् करने में अवरुद्ध हो गया। साहित्यकारों के जिन वर्गों में साहित्य को शैली-भेद-मात्र माना गया, उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि चाहे कितने ही मार्गों की सृष्टि करके साहित्य को समृद्ध किया हो, उन्होंने साहित्य को अपने विषय से विलग कर दिया— साहित्य में अभिव्यक्त कला तब केवल टेकनीक करास अथवा ढर्रे की वस्तु रह गई। और, जब पूर्वकाल में कला ने कहीं अपने विषय (Content) में भी अपना संपर्क स्थापित किया, तो उसमें विषय, जीवन छोड़कर जीवन के मूल-रहस्यों में उलझ गया, और कलाकार जीवन-द्रष्टा न होकर आत्मद्रष्टा होकर रह गया—गुरु बन गया। इन विविध प्रकार की जड़ताओं से ऊबकर कलाकार ने प्रकृति से तादात्म्य करने की चेष्टा की, तो उसके सौंदर्य पर ही मुग्ध हो गया—उसी पर रीझ गया; और अधिक हुआ, तो उसमें किसी शक्ति अथवा दिव्यता की प्रतिष्ठा कर दी। या फिर मानव की ओर लौट पड़ा, तो उसके जीवन की मूर्त नग्नताओं का चित्रण कर बैठा। जीवन की मूर्तता भी जीवन नहीं—वह तो जीवन का परिवेष्टन है।

जीवन जन्म और मृत्यु के बीच की कहानी है, जीवन अपने मूर्त कर्मों और मूर्त कृत्यों में होकर बहता है, और जगत्

जहाँ अपनी स्थूल जड़ता में आत्यंतिक गतिमय सत्ता के जीवन को छिपाए हुए है, वहाँ की जागृति-दर्शन का उद्योग भी जीवन के अध्ययन के उद्योग के अंतर्गत है। प्रकृति में सत्तात्मक जीवन गतिमय मानव-जीवन जैसा जब होता हुआ विदित हो, तो प्रकृति के पत्थर, रोड़े, नद, नाले, शैल, पशु, पक्षी, सभी उस जीवन के प्रतीक बन बैठेंगे, पर ठीक प्रतीक भी न होंगे। उनको समासोक्ति से, रूपक से, जीवन के लिये रूपधारी (Personification) तो कह ही नहीं सकेंगे—क्योंकि वे जीवन के रूपक नहीं—एलीगोरिकल (Allegorical) शैली में वे नहीं लिखे गए होंगे। वहाँ तो उनके अणु-अणु में वह सत्ताधारी जीवन ही सचेत दिखाई पड़ता है। 'पर्वतीय प्रदेश में' पर्वतों को लीजिए—

"इनमें भी सरसता है—इनके भी कलेजा है, जो फूट-फूटकर बहता है।

"इनकी अश्रु-धारा मानव के अश्रु-कणों की भाँति निरर्थक नहीं—

वरन्।

"सृष्टि के जीवन में एक अनोखी सरसता ला देती है। उसके नीरस जीवन को सरस बना देती है।"

प्रकृति के विविध पदार्थों में इन जीवन-व्यापारों को परि-

लक्षित कर उन्हें जीवन-साहित्य का अंग बना देने का उद्योग भी कलाकार कर सकता है—उसे प्रकृति-जगत् के व्यापारों को मानव-जगत् के व्यापारों से गुंफित कर देना पड़ेगा। फिर, उनको और भी उन्नत करने के लिये उनमें काव्यात्मकता लानी पड़ेगी।

ये 'जीवन-रेखाएँ' क्या हैं? ये वे जीवन-रेखाएँ हैं, जो लेखक को मानव-जीवन में ही नहीं, प्रकृति के विविध रूपों और व्यापारों में उसे आड़ी-टेढ़ी-पढ़ी या लिखी मिली हैं। शेक्सपियर के ड्यूक सीनियर ने शुद्ध प्रकृति के संपर्क के संबंध में ठीक ही कहा था—

"And this our life, exempt from public haunt,

Finds tongues in trees, books in the running brooks,

Sermons in Stones, and good in every thing."

ऐसे ही 'जीवन की रेखाएँ', इस पुस्तक के कवि या लेखक को वृक्षों में, सरिताओं में, पर्वतों में पशुओं में, पक्षियों में, बादलों में, सुमनों में और तारों में बिखरी मिली हैं—उसने मानव-जीवन के साथ-साथ उन रेखाओं को पढ़ने की चेष्टा की है। पर मानव तो क्षुद्र-साधन प्राणी है—सबसे आरंभ में ही

लेखक ने जो अपनी असमर्थता प्रकट की है; वह नित्य सत्य है—इसी असमर्थता के कारण हमें आस्तिक बनना पड़ता है। अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति में विश्वास कर उससे भीख माँगनी पड़ती है—

"तुम अपनी विशालता मुझमें भर दो, जिससे मैं पल-पल पर बनती-बिगड़ती इन रेखाओं को समझ सकूँ। तुम मुझे अपने प्रकाश की झलक निरंतर दिखाते रहो, जिससे मैं इन्हें पूर्ण रूप से देखता रहूँ।" तो उस मानवीय असमर्थता के होते हुए भी लेखक ने जीवन की रेखाओं का अध्ययन किया है।

"मैं अपने अनुभव-शून्य माप-दंड के सहारे इन आड़ी-टेढ़ी रेखाओं को नापने का प्रयत्न करता हूँ। देखूँ, कहाँ तक नाप पाता हूँ।"

और यह कहना पड़ेगा कि लेखक वस्तुतः अध्ययन का आश्रय लेकर मस्तिष्क की बोध-वृत्ति के सहारे अनुभूति की ऊँचाई तक पहुँचने की चेष्टा कर रहा है। मानव के लिये आवश्यक करुणा और समवेदना का संदेश उपस्थित करते हुए लेखक ने जिस जीवनमय कला की प्रतिष्ठा इस पुस्तक की पंक्तियों में की है, उससे बिना निर्वेद के, अनुराग के सहारे आत्मविभव की अनुभूति का संतोष मिल उठता है। मैं यह भले

प्रकार जानता हूँ कि लेखक का अनुभव अभी कुछ भी नहीं, लेखक अभी यौवन के प्रथम चरण में भी पूरे प्रकार नहीं प्रवेश कर पाया, अतः किसी भी महान् कलाकार से इसकी तुलना न करना ही ठीक होगा, क्योंकि साहित्य-आलोचकों के आक्रमण के तुषार-पात से इसकी कला-कलिका के मुरझा जाने से भी अधिक भय असामयिक अहंकार की आंतरिक अग्नि से स्वयं लेखक में विद्रूपता आ जाने का है। और, फिर मेरा स्वयं का दंभ उससे प्रकट हो सकता है। अन्यथा इन जीवन-रेखाओं में हमें बहुधा वह मिल सकता है, जो महत्त्व-पूर्ण और मूल्य-वान् समझा जाय।

गद्य-काव्य हिंदी में कम ही लिखे गए हैं, और ऐसे गद्य-काव्य तो और भी बहुत कम हैं, जिनका धरातल ऊँचा हो, और इनसे भी कम हैं वे गद्य-काव्य, जो केवल भावावेश, भावुकता अथवा राग-प्रवृत्ति के साथ 'बोध'-वृत्ति को आत्म-सात् किए हों। गद्य-काव्यों की सबसे भारी कमजोरी बहुधा यह हो जाती है कि भावावेश में रस-स्फूर्ति से विवश होकर, काव्यकार शैली और अलंकारों के मोह में पड़कर कल्पना-जगत् की रँगीली उड़ानों को ही अभिव्यक्त करके चुप हो जाता है। विषय और वस्तु से उसका यथार्थ संबंध दूर होता चला जाता है। बिहारी की अतिशयोक्ति-पूर्ण विरहिणी नायिका

का चमत्कार तो उनमें सुरक्षित रहता है, मानव का रूप वहाँ विलुब्ध हो जाता है। ऐसे गद्य-काव्य अधिक संतोष नहीं दे पाते। रवींद्र के गद्य-गीत इसीलिये पूर्ण हैं कि उनमें भावों के आवेश का रंग-मात्र नहीं रक्खा गया। वस्तु के साथ ठोस संपर्क रवींद्र की पंक्ति-पंक्ति में मिलता है, और जहाँ वह उसके सहारे वस्तु की सीमा के भीतर असीमता के रहस्य का अनुभव करने लगते हैं, वहाँ भी उनका आधार उस वस्तु का ठोस संपर्क ही होता है, वह वहाँ भी उसी वस्तु की निरंतरता बनाए हुए हैं, उससे दूर की उड़ान उनकी अनुभूति नहीं हो जाती। इस पुस्तक के लेखक ने लिखा है—

"क्या तुम्हें मेरी सीमाएँ छोटी प्रतीत होती हैं ? ऐसा तो नहीं, मैं अपनी सीमाओं में बँधा भी असीम हूँ। मेरे हृदयेश ! मेरा क्षेत्र तुम तक विस्तृत हो सकेगा, जिसमें तुम भी व्याप्त हो सको··· ··

"जो तुम देखते हो, यह तो मेरा संकोच है, किंतु इस संकोच से परे मैं अनंत ही हूँ। यदि तुम्हारे न आने का यही कारण है, तो मेरा भी रोना यही है कि मैं सीमा-हीन होकर ससीम क्यों...?"

ऐसा ही असीम और ससीम का संबंध बना रहता है, और वस्तु को जान-पहचानकर जो निरंतर 'बोध' होता रहता है, वह

हृदय के रस से अभिषिंचित होकर यों गद्य-गीतों या गद्य-काव्यों में प्रस्तावित हो उठता है—तभी गद्य-काव्य 'मर्म' का काव्य बन पाता है, और वही सफल भी हो पाता है।

जीवन-रेखाएँ हिंदी को देनेवाला लेखक 'नरेंद्र' मेरा विद्यार्थी होने के नाते ही नहीं, अन्यथा भी मेरे अत्यंत घनिष्ठ संपर्क में रहा है। मथुरा की सुहृद्-साहित्य-गोष्ठी के प्रस्थापक सदस्यों में से यह भी एक हैं। उसी गोष्ठी में इसी पुस्तक के 'रोड़ा' गद्य-काव्य पर विचार करते हुए उसे उसी गोष्ठी में 'बोध-काव्य' का नाम भी दिया गया था। अतः मुझे इन रचनाओं से एक मोह-सा है। इन रचनाओं को पढ़ते-पढ़ते मेरे समक्ष मंसूरी और सहस्रधारा के वे दृश्य झूलने लग जाते हैं, जिनके आकर्षक संकेत से स्फूर्ति पाकर लेखक ने अपने ये विचार पाए हैं। सहस्रधारा के झरनों की चट्टानों पर, देहरादून के गुच्छूपानी के नाले की गुहाओं में, मंसूरी की आर्य-समाज के शीशों में से झाँकते हुए सौम्य वनश्री से समृद्ध पर्वत-मालाओं में, केंप्टी-फ़ॉल से आगे भी यमुना-पुल और उनके पर्वत-प्रदेश में प्रकृति की विविध पुस्तकों का अध्ययन करते-करते जो भाव और विचार उठे थे, वे तक मुझे इन गद्य-काव्यों को पढ़ते-पढ़ते याद आ जाते हैं। पर इनमें—इन काव्यों में व्यक्ति से ऊपर की वस्तुएँ हैं, प्रकृति की पदार्थता से उच्च स्तर

की भावनाएँ हैं, दैनिक व्यवहार सौंदर्य की विभोरता से परे की आत्मविस्मृति है, और उसके साथ है मानव-जीवन का बोध, करुणा का एक स्पर्श, शुद्ध मानवता के प्रति प्रेम, सभी प्रकार की संकोच-वृत्ति और अमानवीय ग्लानि के प्रति व्यंग्य। इन सबमें व्याप्त, इन्हें परिवेष्ठित किए अनुभूतिमय मार्दव की झाँकी है। यह तो मैंने इनमें जाना है, और विश्वास है मुझे कि इस भूमिका के साथ पाठक इन काव्यों में इनसे आगे भी कुछ जानेगा, जिसे यों शब्द प्रकट नहीं कर सकते। मुझे तो प्रसन्नता इस बात की है कि नरेंद्रजी की पुस्तक प्रकाश में आ सकी है। हिंदी का भांडार इससे अवश्य समृद्ध होगा।

सत्येंद्र

अपनी बात

विजयिनी मानवता हो जाय...'प्रसाद'

आज का युग एक संघर्ष का युग है। जीवन के प्रत्येक भौतिक मूल्यों (Values) में आज विकार उपस्थित है। मानव का सामाजिक भूमिका-पट आज प्रतिहिंसा और इनक़िलाब के आघात-प्रतिघातों से चित्रित हो उठा है—क्योंकि भूतकाल में मानव के बनाए अपने बंधन इतने दृढ़ हो गए थे कि उनमें बँधा वह स्वयं अकुला उठा है। उसकी वह अकुलाहट ही इस युग के राजनीतिक असंतोष, सामाजिक असंतोष तथा आर्थिक संकट के रूप में प्रकट हो रही है। आज इन बंधनों के तोड़ने की आवाज़ मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुन पड़ती है—क्या समाज, क्या राजनीति, क्या साहित्य—सबमें ही। इसने साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से एक नवीन विचार-धारा का रूप धारण किया है। प्रगतिवादियों की यह प्रवृत्ति जीवन की कठोर वास्तविकताएँ लेकर आगे बढ़ी है, तथा दलितों का दुःखी जीवन उसका कार्य-क्षेत्र है।

मैं यह मानता हूँ कि 'प्रगति' जीवन है, क्योंकि जीवन की इकाई एक प्रवाह (Flow) है—वह कोई स्थिरता (Location) की वस्तु नहीं। अब जिसमें गति है—वेग है, उसमें परिवर्तनों

का होना अवश्यंभावी है। इसी आधार पर प्रगतिवादी एक नवीन युग का निर्माण करना चाहते हैं। इस नवीन युग के निर्माण के दो दृष्टिकोण हैं—एक तो यह कि प्राचीन की अंतः-परिस्थितियाँ अंदर-ही-अंदर एक संघर्ष के बीच से गुजरती रहें, और चलते-चलते वर्तमान में इतनी स्पष्ट हो जायँ कि उनकी प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप मानव के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन में एक भीषण परिवर्तन उपस्थित हो जाय। इसे हम नवीन युग-निर्माण का विकास-पक्ष कह सकते हैं। इसके आधार पर जीवन के प्रत्येक परिवर्तित मूल्य को निर्धारित करने के लिये उसका सूत्र अपने बीज-रूप में मानव की प्राचीन रूढ़ियों, धृतियों और विश्वासों में खोजना पड़ेगा। दूसरा दृष्टिकोण यह कि वर्तमान में मानव-जीवन के प्रचलित मूल्य, श्रेणी और रीति (Values, scales and standards)—शाश्वत सत्यों को पूर्ण रूप से जड़ से हटाकर उनके स्थान पर बिलकुल नवीन और सामयिक सत्य, माप-दंड तथा सामाजिक मान स्थापित किए जायँ। यह नवीन युग-निर्माण का क्रांति-पक्ष है। एक प्रगतिवादी परिवर्तन के इस दूसरे स्वरूप में अपनी आस्था रखता है, जो अधिक पुष्ट तथा उपयोगी है, और सच्ची प्रगति के लिये यह ही अभीष्ट है।

'आज के लोगों के परंपरागत विश्वास एवं आस्तिक्य बुद्धि

की भित्ति इतनी शिथिल हो गई है, जिससे मानव का जीवन कुछ जर्जरित-सा हो गया है। आज जीवन के आदर्श में, संस्कृति की धारा में आलोड़न-विलोड़न हो रहा है, तथा प्राचीन सभ्यता एवं प्राचीन संस्कृति के सब निदर्शन ध्वंसोन्मुख हो रहे हैं। सब अ-वास्तव हैं।' मानव ने जितनी समाज-व्यवस्था करने का प्रयत्न किया है, उतनी ही वह उसके लिये पहेली बनती गई, और अव्यवस्था होती गई। यह मस्तिष्कों का प्रश्न बन गया। इतना ही नहीं, बल्कि जितना उसने सुधार करना चाहा, उतना ही उसके स्वार्थ ने उसके अंतर में छिपकर, नए-नए रूप धारण कर अपने को व्यक्त किया। आज का मानव हमारे वर्तमान समाज की व्यर्थता अनुभव करता है, वह समाज, जो नैराश्य एवं अवसाद से ग्रस्त हो रहा है। जिसमें अत्याचारी, अर्थ-पिशाच मनुष्यों का सर्वत्र बोलबाला है। यही कारण है कि वर्तमान परिस्थितियों में अतीत की सभ्यता एवं संस्कृति 'भग्न मूर्तियों के ढेर' (A heap of broken images) के सिवा कुछ नहीं है।

'वर्तमान युग में मानव को अपने बल और दौर्बल्य की आत्म-चेतना हो गई है। वह आधुनिक समाज का सब कुछ खोखला और मिथ्या भले प्रकार समझता है। आज उसका अंतर सर्वजन-सम्मत कर्तव्य-ज्ञान के विरुद्ध पद-पद पर विद्रोह कर

उठता है। तभी तो आज के कलाकार का आधार होता है समाज चेतना और ऐतिहासिक बोध। आज के कवि का मुट्ठी-भर धनिक विलासी लोगों के जीवन के फूल, चाँदनी और मलय-पवन की अपेक्षा नित्य जीवन के संगी, धुआँ, स्थूल मिट्टी आदि के साथ उसका विशेष संबंध है।' प्रगति चाहती है नीति, धर्म, यौन विषय आदि के संबंध में प्राचीन धारणाओं का आमूल परिवर्तन तथा इनकी व्यर्थता। यह परिवर्तन के विकास-पक्ष में कहाँ संभव हो सकता है ......?

मानव-जीवन की इस शोचनीय दशा का उत्तरदायी आज उसका स्वयं का स्वार्थ है, जिसने अपने को दो रूपों में प्रकट किया है—पहला बौद्धिक प्रभुत्व (Intellectual Dominance) अर्थात् समाज के जिस भाग का जरा बौद्धिक विकास हो गया, उसने अपनी सामाजिक स्थिति (Status) बनाए रखने के लिये उपाय किए। इस प्रकार मनुष्य के बहुत-से मत-मतांतर, शास्त्र, कर्मकांड तथा स्वर्ग-नरक और मोक्ष के उपायों की नींव पड़ी। यह साधारण मस्तिष्क को शोषण (Exploit) करने के लिये, उसे डराने को तथा मानसिक गुलाम बनाने को उसकी अपनी स्वार्थमय (Selfish) सूझ थी। ईश्वर का प्रश्न प्रभुत्व (Dominance) के लिये सदैव हथियार की भाँति साबित हुआ, और इसी के आधार पर

एक नियमित शब्द-जंजाल, वितंडावाद मानसिक गड़बड़ी (Mental confusion) के लिये खड़ा किया गया, जो थोथा है, एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है। स्वार्थ का दूसरा रूप है अधिकार भाव, जो कि स्वायत्तीकरण की ओर अग्रसर करता है। Property element which leads to monopolization – मानव के इस स्वार्थ-सिद्धांत के फलस्वरूप उसके वैधानिक जीवन (Institutional forms of life) की नींव पड़ी, जिसमें विवाह (Marriage), परिवार (Family), नाते-रिश्ते (Relations) तथा बहुत-सी ख़ुराफ़ातें, जिन्हें मनुष्य सामाजिक जीवन कहता है, आती हैं। इन दो स्वार्थ-सिद्धांतों ने उसके जीवन में प्रवेश करके उसकी दृष्टि को इतना संकुचित कर दिया कि उसने अपने भारी मानव-समुदाय से परे सोचा ही नहीं कि जीवन का स्पंदन इससे भी अधिक है। वह प्रकृति को भूल गया, जिसकी प्रत्येक बात में संतुलन है। वह आकाश की ओर उड़ता गया। उसने कला, विज्ञान, आविष्कार, दर्शन बनाए, और इनमें आगे बढ़ता गया, किंतु उसने पृथ्वी की ओर न देखा। आज वे ही चीज़ें उसके लिये बंधन—विनाश के कारण बन रही हैं। आज उसकी कला दलित हृदय तथा मस्तिष्क (Supressed heart and mind) का रोना है, वह अधिकांश में यौवन की अवरुद्ध प्रौढ़ता (Arrested growth of

youth) को मानसिक क्षेत्र में संतुष्ट करने के काम में उपयोग की जा रही है। आज उसका विज्ञान उसके ही विनाश का कारण बन रहा है—वही विज्ञान जिसको उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये हथियार की भाँति खोजा था। मानव का दर्शन संस्तृति के अनंत युग से सृष्टि की उत्पत्ति तथा मरण के बाद की दशा पर मानसिक उतार-चढ़ाव करता रहा है, किंतु उनका अब तक पता न लगा सका—उनके विषय में अभी तक एक निश्चित मत पर न पहुँच पाया। मानव के धर्म ने उसे दुःखों से छुड़ाने तथा मुक्ति दिलाने की चिंता की, किंतु उसके दुःखों में अभी तक कमी न हुई—वे बढ़ते अवश्य गए। उसने हमेशा मानव को परम-मानवीय (Superhuman) बनाने की सोची।

मैं मानवता को स्वयं एक धर्म मानता हूँ। इतना ही नहीं, वरन् मानवता एक गुण भी है और कर्तव्य-दिशा भी। गुण के नाते यह जीवन के दर्शन से संबंधित है, तथा कर्तव्य-दिशा के नाते जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों से संबंधित है। एक प्रगतिवादी कलाकार के लिये इन दोनों दृष्टिकोणों को अपने सामने रखना अपेक्षित है। मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ—वह यह कि प्रेम, वेदना, दुःख, पीड़ा, आशा-निराशा

आदि इन सबके दो पक्ष हैं—पहला मानसिक भाव-पक्ष (Abstract), जो इनके दार्शनिक मूल्यों (Values) से संबंधित है, तथा जो सदा स्थिर (Positive) और एक है, यानी इन भावों के इन मूल्यों में एकत्व (Unity) है। दूसरा भौतिक उपकरण-पक्ष—जो इनकी अभिव्यक्ति के साधन हैं, अर्थात् वे आश्रय, जिनके द्वारा ये भाव प्रकट होते हैं। ये सापेक्ष्य (Relative) हैं, तथा जिनमें मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार अंतर उपस्थित होते रहते हैं।

मानव-जीवन के इस गहरे अंतर को पार करने के लिये आज हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन में जीवन के अनुच्च धरातल (Lower level of life) की सत्ता को न भूल जायँ। आज हम यह अनुभव करें कि "प्रकृति के लघुतृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अंधकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता, निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिंब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, उसकी परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर

किसी असीम चेतन और दूसरा उसके समीप हृदय में समाया हुआ था, तो प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा ।" इन 'जीवन-रेखाओं' में मैंने ऐसे ही व्यक्तित्व को खोजने का कुछ प्रयत्न किया है ।

आजकल का हृदय मस्तिष्कमय है तथा मस्तिष्क हृदयमय । केवल हृदय का प्राबल्य ही हमको आगे नहीं बढ़ा सकता, क्योंकि हृदय अधिकांश में जीवन से दूर भागने का प्रयत्न करता है, और केवल मस्तिष्क शुष्क और नीरस हो जाता है । इसलिये हृदय और मस्तिष्क, दोनों का समन्वय अपेक्षित है । इन गद्य-काव्यों में मैंने हृदय और मस्तिष्क को एक प्रकार से आपस में गुंफित (Interwoven)करने का प्रयत्न किया है । यह मेरा एक निजी दृष्टिकोण है । इन गद्य-काव्यों के बारे में मुझे एक बात और कहनी है—वह यह कि मैं व्यक्तित्व की दार्शनिकता (Philosoyhy of Individuality) में पूर्ण विश्वास रखता हूँ । यह एक मेरी चीज है, और मुझे विशेष प्रिय भी है । मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्तित्व का अपना एक निजी अस्तित्व है, कोई उसे लीन (Absorb) नहीं कर सकता । 'व्यक्तित्व' तो इस विश्व की स्वतंत्र इकाइयाँ हैं—अपने में पूर्ण । मेरी इस आस्था की छाया पाठक को इन 'जीवन-रेखाओं' में स्थान-स्थान पर अवश्य मिलेगी । आशा

है, वह उसे सहृदयता से अपनाने का प्रयत्न करेगा। 'रोड़ा' और 'इधर-उधर' मेरे इस विश्वास के स्तंभ हैं।

वास्तव में ये 'जीवन-रेखाएँ' जीवन की भावमय कहानियाँ हैं, जिन्हें मैंने 'प्रगतिशील, बोधात्मक गद्य-काव्य' के नाम से संबोधित किया है। यहाँ मैं 'बोधात्मक गद्य-काव्य' को विशेष रूप से स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ, जिससे पाठक-गण मेरे इस नवीन दृष्टिकोण के प्रति अधिक न्याय-संगत अपनी सहानुभूति दिखला सकें। जहाँ विचारों की प्रधानता है, तथा जिसमें काव्य नहीं है, वह बोध है। बोधात्मक गद्य-काव्य वह है, जहाँ विचारों के साथ-साथ भाव भी हों, काव्य के साथ-साथ बोध भी हो। इसमें भाव या विचार, इन दोनो में से किसी एक की प्रधानता नहीं रहती; बल्कि दोनो का सामंजस्य तथा समन्वय होता है। यदि भावों की प्रधानता है, तो वह भावात्मक गद्य-काव्य केवल हृदय का विषय हो जायगा, और यदि उसमें विचारों की प्रधानता है, तो वह विचारात्मक गद्य-काव्य केवल मस्तिष्क का विषय—शुष्क दार्शनिक हो जायगा। अब तक इसी प्रकार की दो धाराएँ हिंदी में थीं। अधिकांश गद्य-काव्य या तो विचारात्मक होते थे, अथवा भावात्मक। हिंदी में बोधात्मक गद्य-काव्य प्रायः कम लिखे गए। 'जीवन-रेखाएँ' मेरा एक ऐसा ही प्रयास है। इसमें

संकलित गद्य-काव्यों को मैंने दो भागों में विभाजित किया है। 'हृदय'-शीर्षक के अंतर्गत प्रचलित परिपाटी के अनुसार कुछ गद्य काव्य संकलित हैं, जो विशेषतया भावात्मक हैं अथवा विचारात्मक। 'हृदय और मस्तिष्क'-शीर्षक के अंतर्गत वे गद्य-काव्य रक्खे गए हैं, जो बोधात्मक हैं तथा विचारात्मक और भावात्मक दोनो हैं।

गद्य-काव्य, बोध-काव्य तथा बोध का अंतर— गद्य-काव्य कविता की भाँति विशेष अनुरंजन की सामग्री से भी संबंध रखता है। उसके चित्रों में मनन और मनीषिता का इतना पुट नहीं होता, जितनी हृदय के रस की प्रधानता होती है। गद्य-काव्य में साधारण वस्तु में विशेषता देखना उस पर विचार करना होता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि गद्य-काव्य में ऐंद्रियिकता विशेष रहती है, मनीषिता नहीं, किंतु बोध-काव्य में ये दोनो वस्तुएँ मिलती हैं, और बोध में मनीषिता की प्रधानता होती है। इस प्रकार यह अंतर अधिकांश में अंशों (Degrees) का है, जाति (Kind) का नहीं।

अंत में मैं श्रीसत्येंद्र एम्० ए० का अत्यंत आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक के लिये 'दो शब्द' लिखकर मुझे अत्यंत कृतार्थ किया है। मैं उनकी असीम कृपा का मूल्य शब्दों में नहीं आँक सकता। सहृदय सलेकचंद्र जैन ने प्रूफ़ आदि के पढ़ने में मुझे

जो सहायता दी है, उसके लिये वह मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे श्रीदुलारेलाल भार्गव की उदारता, साहस तथा साहित्य-सेवा की लगन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशन करते हुए अत्यंत हर्ष होता है कि इस प्रकार की कठिनाइयों के समय में, जब कि काग़ज़ तथा अन्य सभी वस्तुएँ इतनी महँगी और अप्राप्य हो रही हैं, वह हिंदी-संसार के सामने मेरी पुस्तक रखने में सफल हुए हैं। मैं श्रीगंगाशरण अग्रवाल को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, जो मेरे मंसूरी-पर्यटन के एक विशेष निकट के साथी रहे हैं।

लखनऊ-जेल में
ता० ४ जनवरी, १६४३

—नरेंद्र

पिता की

इस निस्सीम महासागर की उत्ताल तरंगों पर एक निराधार-निरुद्देश जीवन बह आया था, जिसको शैशव में ही मा इस अगाध महासागर के बीच छोड़के चल बसी थीं—उस समय तुमने ही उसे एक निश्चित गति दी।

मेरा वह अनुभव-हीन, निस्सहाय जीवन यहाँ अंधकार और मँझधार में प्रकाश और किनारे के लिये पुकार रहा था—उस समय तुमने उसके साथ इस महान् मानव-समुदाय में से पहचानने के लिये एक चिह्न जोड़ दिया—

और,

उसे एक निश्चित दिशा देकर अपने और दूसरों को समझने की क्षमता प्रदान की।

तुम्हारे स्नेह को पाकर, संसृति के उन निर्मम क्षणों में, टिमटिमाता मेरा वह छोटा-सा दीपक जीवन और ज्योति से भर गया—इसकी ज्योति के मूल में आज तुम्हारा ही प्रेम छलकता है।

मैं तो आज मा की रूप-रेखा भी स्मरण नहीं कर पाता—तुमने ही उनके महान् मातृत्व का मुझे अनुभव कराया।

माता की ममता और पिता का स्नेह दोनो ही मुझे तुममें

मिले—तुम्हारे प्रेम की गोद में कभी मुझे मा का अभाव अनुभव न हुआ।

तुमने मुझे विद्या का वरदान दिया—जीवन-संग्राम में प्रवेश करने के लिये अमर शक्ति-स्फूर्ति दी—तुमने मुझे सब कुछ दिया। मैं तुम्हारे महान् 'पितृत्व' की सीमा नहीं बाँध सकता।

तुम्हारे व्यक्तित्व की प्रेरणा मेरे जीवन के गहन अंधकारपूर्ण क्षणों में प्रकाश की रेखा बनकर मुझे मार्ग दिखाती रहे—तुम्हारे वात्सल्य प्रेम का वरद हस्त मेरे ऊपर सदैव बना रहे—जिससे मैं एक साहसी सैनिक की भाँति इस जीवन-संग्राम में डटा रहूँ—

और,

इस विरोध-जन्य जगत् की विषमताओं के सामने अपना सिर न झुकाऊँ।

तुम्हारे द्वारा कर्म-पाश में बँधी मेरी छोटी-सी, जीर्ण नैया इन लहरों की थपेड़ें खाकर भँवर में अपना अस्तित्व न खो दे—पिताजी! तुम मेरी पुरानी बल्लियों को नव-जीवन देते रहना, जिससे मैं उस अज्ञात तट की ओर निरंतर आगे बढ़ता रहूँ।

जीवन के उस सुनहले प्रभात में तुमने मुझे विकास के प्रतीक कुछ पुष्प दिए थे—मैं उन्हें ज्यों-का-त्यों सँभालकर तो

न रख सका, किंतु उनकी स्मृति और संदेश अब भी मेरे साथ है।

मेरे भोले हृदय-पट पर जो जीवन के जमघट की छाया विविध रंगों में चित्रित हुई है—वही आज अपनी टूटी-फूटी भाषा में तुम्हारे सम्मुख रख रहा हूँ।

इस मानवता के भारी परिमाण में से मुझे 'मैं' कहलाने का प्रसाद देनेवाले तुम ! मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता......

लखनऊ
ता० २५ दिसंबर, १९४२

—नरेंद्र

उपहार

उपहार

मेरे आराध्य !

जब मेरे स्वप्न-संसार के रंगीन स्वप्न बुझते दीपकों की भाँति एक-एक करके अंधकार में विलीन हो रहे थे—मैंने अपने जीवन के एक धुँधले प्रातः में विषाद से भरे, अपने अलसाए-निराश नेत्र खोले...

और,

अपने असंतोष पर हँसते इस संसार की ओर देखा।

उस समय हृदयोद्यान में कुछ सुप्त उद्‌गारों के बीज बिखर पड़े थे—और, धीरे-धीरे इन्होंने वहाँ पनपना आरंभ कर दिया था... विश्व की आँखों से ओझल।

फिर भी,

न-मालूम इनके जीवन-काल में निराशाओं के कितने तुषार-पात हुए, और चले गए।

कितने ही उपेक्षा और असहानुभूति पवन के निष्ठुर झोंके आए, और इन्हें झकझोरकर चले गए।

परंतु,

श्रद्धेय ! इन सबको सहन करके भी ये अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके हैं। और, अपने जीवन की विषमताओं को पार करके आज ये मानव की चिर-विस्मृत अज्ञात वेदना की भाँति फूट निकले हैं।

इनको अपने नेत्रों के पानी की एक-एक बूँद से सींचकर इतना बड़ा किया है। देव! तब कहीं, समय पाकर इन पर, हृदय में संचित वे आँसू अपनी मुग्धावस्था में पुष्प-से आ लगे हैं, जो विश्व को एक रहस्य की भाँति प्रतीत होते हैं।

अभी ये विकसित नहीं हैं, प्रभो! कभी प्रेम के मृदु वसंत में इनका पूर्ण विकास होगा। इस विश्व की कठोर ताप से कहीं कुम्हला न जायँ, बस, मेरे आराध्य! तुम इतना ही ध्यान रखना। यहाँ की इन्हें कठोर हवा न लगे, अन्यथा ये क्षीण-विक्षीण होकर मुरझा जायँगे...ठुकरा दिए जायँगे। देव! इस संसार ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के बाद कब किसी का आदर किया है?

आज,

इनकों ही मैं एकत्र करके हृदय-तंत्री के बिखरे तारों में गूँथकर श्रीचरणों में भेंट करना चाहता हूँ। मेरे श्रद्धेय! और दूँ भी क्या?

इस संसार से ऋण लेकर तो मैं भेंट देना नहीं चाहता। और, यह मुझे दे भी क्या सकता है...?

धन...?

नहीं, प्रभो! इसी से तो मनुष्य का विवेक क्षीण हो जाता है। वह अपना व्यक्तित्व भूलकर संसार में फँस जाता है। फिर, इसका अस्तित्व ही कितना? बीत जायगा...चोर लूट लेंगे...इतना ही क्यों, देव! इससे तो दुर्बल को कुचलने की अभिलाषा और भी बलवती हो उठेगी—मोह और तृष्णा की गति तीव्र हो जायगी।

तन...?

इस पर मेरा अधिकार ही क्या? इस पर भी, यह क्षण-भंगुर—और, मन, अनेकों विकारों और दुःखों का क्षेत्र है। श्रद्धेय! इन्हें भेंट में न दूँगा। मैं तो चिर-स्मृति भेंट में देना चाहता हूँ, इसीलिये तो यह हार गूँथा है...मेरे श्रद्धेय!

इसमें पिरोए ये पुष्प मेरे जीवन की निधि हैं। मेरे लुटे वैभव के शेष अनमोल रत्न हैं। इनमें मेरी साधना की चिर सीमा निहित है—समस्त विश्व का वैभव व्याप्त है—और हैं ये चिर-स्मृति के प्रतीक, मुझ निर्धन के एकमात्र अवलंब...

जब ये अपने यौवन के पूर्ण विकास में विहँसेंगे—और, अपने मृदु सौरभ में अपने को खोकर विश्व की अनंत सेवा में लीन हो जायँगे, तब संसार इनकी ओर भाव-पूर्ण नेत्रों से देखेगा। अनेकों अलि उत्कंठित होकर इनकी ओर आएँगे। उस समय मेरी यह भेंट सार्थक होगी।

श्रद्धेय! मेरा यही भोला-सा उपहार है...स्वीकार हो।

मसूरी
ता० ५ जून, १६४०

—नरेंद्र

जीवन-रेखाएँ —



श्रीनरोत्तमलाल गुप्त 'नरेंद्र' साहित्यरत्न

Ganga Fine Art Press, Lucknow.

जीवन-रेखाएँ

हृदय

एक

जीवन-रेखाएँ

तुमने मेरे सामने यह आड़ी-टेढ़ी रेखाओं का जाल क्यों बिछा दिया ? मेरे पास तो इन्हें नापने के लिये कोई माप-दंड भी नहीं !

कुछ स्पष्ट और कुछ धुँधली-सी, ये रेखाएँ खींचकर क्यों मुझे भ्रम में डालते रहते हो ? मेरे पास तो इन्हें नापने के लिये कोई माप-दंड भी नहीं !

तुम्हारी उन रंग-भरी प्यालियों की गहराई के ध्यान-मात्र से ही मैं सिहर उठता हूँ। तुम्हारी सुंदर तूलिका इस बृहत् चित्रपट पर निरंतर चलती रहती है—मैं कैसे इन रेखाओं की सीमा निर्धारित कर सकूँगा ?

तुम अपनी विशालता मुझमें भर दो, जिससे मैं पल-पल पर बनती-बिगड़ती इन रेखाओं को समझ सकूँ। तुम मुझे अपने प्रकाश की झलक निरंतर दिखाते रहो, जिससे मैं इन्हें पूर्ण रूप से देखता रहूँ।

मेरे सर्वस्व ! मैं अपने अनुभव-शून्य माप-दंड के सहारे

इन आड़ी-टेढ़ी रेखाओं को नापने का प्रयत्न करता हूँ। देखूँ, कहाँ तक नाप पाता हूँ ?

तुम्हारी उँचाई नापने के लिये तो मैं एक इकाई हूँ। उँचाई तो, ओ कुशल चित्रकार! उँचाई देखकर नापी जा सकती है कि कितना ऊँचा और है। किंतु जब मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं किस धरातल पर हूँ, तो मुझे अपनी निचाई की ओर देखना पड़ता है। मेरी इस 'उँचाई' में 'निचाई' भाव-रूप से सदैव वर्तमान है।

और,

तुम्हारी उँचाई 'गहराई' भी है; वह मेरे पास कहाँ ? मैं इन आड़ी-टेढ़ी रेखाओं का 'ऊँचा-नीचा' कैसे नापूँ ? मेरे पास तो इन्हें नापने के लिये कोई माप-दंड भी नहीं !

नाथ ! तुम्हारी आज्ञा पालन करने की लालसा लेकर मैं निकल तो पड़ा हूँ, किंतु अपने इस क्षुद्र माप-दंड द्वारा तुम्हें कैसे समझूँ ? तुम मुझमें अपनी व्यापकता भर दो। मेरे पास तो इन्हें नापने के लिये कोई माप-दंड भी नहीं !

मथुरा
ता० २३ जून, १९४०

दो

उन्मुक्त

यह बंधन तो तुम्हारा दिया एक वरदान है, फिर इससे छुटकारा मैं क्यों चाहूँ ?

प्रियतम ! इसी पर तो मिलन की आशा टिकाए, तुम्हारी प्रतीक्षा में कब से बैठा हूँ । फिर इससे छुटकारा, मैं क्यों चाहूँ ?

मेरे नाथ, मेरे जीवन ! मेरी असावधानी से यह और भी कड़ा हो गया है; चाहो, तो कुछ ढीला अवश्य कर दो । यदि यह न करो, तो मेरी आत्मा को इतना संकुचित और संकीर्ण बना दो कि उसमें तुम-ही-तुम रह सको ।

जीवन की घड़ियाँ, लहरों की भाँति, इस महासागर के सूने तट से टकरा रही हैं, और एक-एक करके अंधकार की शून्यता में विलीन हो जाती हैं । मैं यह बंधन लिए कब तक तुम्हारी प्रतीक्षा करूँ ?

प्रतीक्षा से ऊबकर मिलन-आशा जाग उठी है—मैं इसे अब कहाँ तक रोक सकूँगा ?

अब तुम क्यों नहीं आते......?

अवसान की छाया मेरे पीछे है—अभी दूर और अस्पष्ट। किंतु वह मुझ तक पहुँचने को निरंतर लंबी होती जा रही है।

बस, तुम्हारे वरदान की वह मधुर स्मृति हृदय को विकल कर देती है। तुम्हारे स्वागत में जलाया मेरा क्षुद्र दीपक बार-बार बुझ जाता है—मैं उसे फिर जलाता हूँ।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मेरे जीवन की धरा पर आशा और निराशा, दोनो गले मिलकर सो रही हैं—एक आशंका-सी है, न-मालूम कौन-सी पहले जाग उठे। इसका भय तो मेरे रोम-रोम में फैल गया है।

इसलिये......

हे नाथ! एक बार आकर तुम अपने वरद हस्त से इसे छू लो—मैं इस बंधन को तुम्हारे श्रीचरणों पर रख दूँगा। इसके द्वारा ही तुम्हारा और मेरा अंतर किसी दिन नज़दीक आएगा—मैं इसी अभिलाषा से इसे लिए बैठा हूँ। फिर इससे छुटकारा मैं क्यों चाहूँ?

मथुरा
ता० २४ जून, १९४०

तीन

बालू का घर

जीवन की उस गोधूली में, जब सरिता में पड़ी अंधकार की छाया बहुत ही गहरी और काली प्रतीत होती थी, शांत नीर मंद-मंद गति से बह रहा था—नीरव, निष्क्रिय-सा। तुमने सिकता-कणों से खेलते-खेलते यह बालू का घर बना दिया था।

हर्ष के मारे मैं फूल तो उठा, पर मुझे क्या मालूम था कि यह तुम्हारा एक खेल ही है।

ओ कुशल चित्रकार! इसके एक-एक कण में तुम्हारी कारी-गरी व्याप्त है। एक-एक परमाणु में तुम्हारी विशालता अंतर्हित है। किंतु, तुमने मेरे अनुभव-शून्य हाथों में यह धूल का प्रासाद क्यों दे दिया? मैं इसे ज्यों-का-त्यों कैसे रख सकूँगा?

आज इसका एक-एक कण धूल में खेलने को मचल उठा है। फिर, इन शिथिल और क्षण-भंगुर बंधनों के सहारे मैं उन्हें कैसे बाँधे रक्खूँ? तुमने मेरे अनुभव-शून्य हाथों में यह धूल का प्रासाद क्यों दे दिया?

एक तूफ़ान-सा उठ खड़ा हुआ है। देखो, यह बालू का घर

इस प्रबल झंझावात से अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा। तुम अपने स्नेह की स्निग्धता इसमें भर दो, जिससे ये कण यों ही न बिखर पड़ें।

मेरे सर्वस्व! आज मेघों के नेत्रों में अश्रु-कण भर आए हैं। अदृश्य और अस्पष्ट। उनका अंतर् विषाद की एक कालिमा से रुँध-सा गया है। न-मालूम वे कब ढुलक पड़ें?

तब......?

मेरी यह आशंका भी कैसी है, जो स्वार्थ-संवरण नहीं कर सकती?

नाथ! इसके प्रकृत स्वरूप में, मेरी असावधानी से, कुछ परिवर्तन हो गए हैं। शायद तुम उन्हें देखकर प्रसन्न न हो। तुमको तो वही रूप पसंद है, जैसा कि तुमने बनाया था।:

बस, निर्माणक! जब तुम आओ, तो इस पर पड़े काल और विस्तार के चरण-चिह्नों को अपनी अनुकंपा और दया के अमृत-बिंदुओं से भरकर इसे सँभाल देना। यह अपने प्रकृत रूप में आ जायगा, जैसा कि तुमने बनाया था।

उस समय तुम्हारे कोमल चरणों की हल्की-सी ठेस से यह गिर पड़े। इसीलिये तो मैं इस अगाध महासागर के किनारे बैठा अपने क्षुद्र प्रयत्नों से इसकी रक्षा किए हूँ...

आगरा
ता० २५ जून, १६४०

चार

कौतूहल

शशि-रश्मि से सद्यःस्नाता रजनी ने अपनी नीरवता का सुकुमार अंचल विश्व पर फैला दिया है। वह शून्य की ओक में अगणित सितारे भरे, उन्हें एक-एक करके अपनी बिखरी अलकों में गूँथ रही है। मैं अपनी छोटी-सी कुटिया से निकल-कर तेरे इस वैभव-पूर्ण प्रासाद के द्वार पर आ बैठा हूँ—

और,

तेरी इस समृद्धि को देखकर मन में बार-बार यही सोचता हूँ कि इस विशाल रत्न-राशि का स्वामी कौन है? कहाँ है?

तेरे अगणित रत्नों के प्रकाश में मैं अपने को खो-सा बैठा हूँ। मैं अपने मुट्ठी-भर ऐश्वर्य को लेकर तुझे कैसे पहचानूँ?

यह लो, मेघों के इन छोटे-छोटे टुकड़ों ने एकत्र होकर रजनी के सब रत्न बटोर लिए हैं। वह छोटा-सा चंद्रमा झीनी कालिमा के पर्दे में से निष्प्रभ-सा झाँकने लगा है। विषाद से भरे आकाश की छाया महासागर की गोद में कूदकर उसकी

उत्ताल तरंगों पर नाच उठी है। शीतल पवन के तीखे झोंकों से बिंवे पादप-पुंज टलमल-टलमल कर रहे हैं—

हृदय में एक हूक-सी उठती है कि यह सब क्या है? अनंत के किसी निर्जन तट पर बैठा जो सृष्टि के इस परिवर्तन-चक्र का संचालन करता है, वह कौन है? कहाँ है?

तेरी विचित्रता में मैं अपने को भूल-सा बैठा हूँ। मैं तेरे इस प्रकाश और अंधकार का रहस्य कैसे समझूँ? ज्यों-ज्यों मैं अपनी इस आश्चर्य-भरी जिज्ञासा के पीछे जाता हूँ, मेरी सीमाएँ और भी क्षुद्र होती जाती हैं।

मेरे हृदय के अंतरतम कोने में बैठा जो बाहर मेरे इस स्थूल शरीर का नियंत्रण कर रहा है, वह कौन है! कहाँ है?

अब, आकाश में कालिमा के अंतर् से कभी-कभी प्रकाश की एक रेखा झलक रही है। महान् अंधकार में भी वह प्रकाश की रेखा—चिर-विस्मृति की भाँति। फिर, बादलों का घोर गर्जन हृदय को कँपा देता है। अंतर् में प्रलय की एक ध्वनि-सी गूँज उठती है।

मृत्यु के गर्भ में छिपे तेरे जीवन के इस मूक स्पंदन को मैं कैसे अनुभव करूँ? मैं कुछ हैरान-सा हूँ। मेरे गुप्त अंतस्तल के इस छोर से उस छोर तक केवल यही ध्वनि प्रतिध्वनित रहती है कि इस सृष्टि का संयम करनेवाला कौन है? कहाँ है?

ओ ! इस विश्व की रंगभूमि के सूत्रधार ! मैं अपनी अपूर्णता लेकर तेरा कैसे परिचय प्राप्त करूँ ? मैं कुछ हैरान-सा हूँ।

आगरा
ता० २६ जून, १६४०

पाँच

लालसा

तुमने मुझे कर्म के अनंत सूत्र में क्यों बाँध दिया ? मेरी यह लालसा कब थी ?

आज मेरे प्रवाह की गति एक निश्चित दिशा की ओर मुड़ गई है—बँधी-सी, सीमित-सी।

उसमें तुम्हारी नीरव निःश्वासों के मधुर स्पर्श एक हिलोर-सी उत्पन्न कर जाते हैं।

तूफ़ानी झंझावातों के आवेग उसमें उत्ताल तरंगें उठा देते हैं, जो आ-आकर जीवन के जीर्ण किनारों से टकराती हैं, और फिर वहीं लौट जाती हैं। तुमने मुझे कर्म के अनंत सूत्र में क्यों बाँध दिया ? मेरी यह लालसा कब थी ?

नाथ ! जब तक मैं प्रकाश में था, मुझे तुम्हारा अभाव प्रतीत न हुआ। अब मेरे जीवन की धरा पर अंधकार की छाया पड़ने लगी है, जिसमें मैं तुम्हारे सौम्य प्रकाश की रेखा भूलता जा रहा हूँ।

मेरे हृदयाकाश में विषाद के काले बादल छा गए हैं, जिनमें

से तृष्णा और वासनाओं की लंबी-लंबी बूँदें निरंतर रिस रही हैं। चारो ओर कालिमा बढ़ती जाती है। भय और आशंका ने मेरे चारो ओर कारागार की दीवारें खड़ी कर दी हैं। तुमने मुझे कर्म के अनंत सूत्र में क्यों बाँध दिया ? मेरी यह लालसा कब थी ?

प्रियतम ! अब मैं यह चाहता हूँ कि अपनी सीमाओं में बँधा भी तुम्हारा अमर संगीत निरंतर सुनता रहूँ, जिसकी मृदु लय में अपने को खोकर मैं विश्व की अनंत सेवा में लीन हो जाऊँ।

तुम मेरे क्षुद्र दीपक में अपना स्नेह भर दो, जिससे मेरे ज्ञान की दीप-शिखा परिधि-शून्य होकर निरंतर जलती रहे, जिसके प्रकाश में फैलकर मैं अपना अपनत्व खो दूँ।

तुम मुझमें वह शक्ति भर दो, जिससे मैं 'शिव' बनकर संस्कारों के विष को पी डालूँ।

तुम मेरी आत्मा के बिखरे तारों को झंकृत कर दो, जिससे उनमें से 'अनंत यौवन' का राग सदैव निकलता रहे, जो सृष्टि के कोने-कोने में गूँज जाय।

मेरे अंतर् में निरंतर एक ज्वाला प्रज्वलित रहे, जिसमें मैं सृष्टि के ज्ञान को शोधकर अपना कर लूँ।

मुझे तुम प्रतीक्षा दो, जिससे मैं चिर-वेदना का निरंतर अनुभव करता रहूँ, और दिन-रात तुम्हारी ओर देखता रहूँ।

मैं तुमसे क्या माँगूँ ? और कोई लालसा शेष नहीं। वे सब उस भारी अंधकार के बोझ से कुचलकर नष्ट हो गई हैं।

लखनऊ
ता० २७ जून, १६४०

छः

निमंत्रण

मैं विक्षिप्त-सा अचेतन सो रहा था। तुम्हारे पैरों की चाप के संगीत से मेरी तंद्रा टूटी। मैंने देखा कि तुम मुझे अपनी ओर बुला रहे हो।

तुम अदृश्य हो गए। मैं शून्य की ओर देखता रहा—अप्रतिभ-सा। तुम जीवन-मरण की वेला पर थिरक रहे थे।

मेरी भीगी पलकें लग गईं। तुम्हारी पद-ध्वनियाँ फिर सुनाई दीं। मैं अकिंचन तुम्हें देखने लगा।

किंतु,

मेरी निराश दृष्टि क्षितिज के धुँधले आँचल को छूकर यों ही लौट आई। तुम कहीं न मिले। हृदय की इस प्यास को शांत करने के लिये कितनी ही नेत्र-प्यालियाँ भरी हैं, और रिक्त कर दी हैं। जीवन की इस आँख-मिचौनी में मैं स्वयं कुछ खो-सा गया हूँ।

रजनी ने करवट बदल ली है। उसकी साड़ी के मोती झड़ गए हैं। कुछ सुमन के कपोलों पर ढुलक पड़े हैं। बस,

केवल तुम्हारी मृदु मुस्कान अर्ध-जागृति प्रकाश की रेखा बनकर मेरे हृदय में बिंध रही है—और, मैं अभी अंधकार में ही बैठा हूँ। प्रियतम! आकाश के हृदय में काले बादल छा रहे हैं, अब वह पूर्ण प्रकाश कहाँ?

फिर! तुम मुझे आने को बार-बार निमंत्रित क्यों कर रहे हो? इस निविड़ अंधकार में मैं तुम्हारे पास कैसे आऊँ?

अंधकार की छाया में तुम्हारे चरण-चिह्न स्पष्ट दिखलाई नहीं पड़ते। फिर तुम मुझे बुलाते हो! इस निविड़ अंधकार में मैं तुम्हारे पास कैसे आऊँ?

और,

मैं तो तुम्हारे मार्ग से परिचित भी नहीं। सभी मार्गों पर कुछ दूर तक तुम्हारे चरण-चिह्न मिलते-से प्रतीत होते हैं—पर आगे वे विलुप्त हो जाते हैं। मैं प्रत्येक पर जाता हूँ, और निराश होकर लौट आता हूँ। तुम्हारा कोई निश्चित राजपथ नहीं! मैं कौन-से मार्ग से आऊँ?

इस अगाध महासागर की लहरों पर मेरी जीर्ण नाव नाच रही है। मेरी बल्लियाँ अशक्त हो गई हैं। सामने कोई प्रकाश-स्तंभ भी नहीं। और, तुम्हारे मौन आह्वान बरबस मुझे अपनी ओर खींच रहे हैं। इस निविड़ अंधकार में मैं तुम्हारे पास कैसे आऊँ?

जीवन-रेखाएँ

मैं क्यों झिझकूँ ? जब तुम स्वयं मुझे निमंत्रण दे रहे हो। तुम मेरे अंतर् की दीप-शिखा प्रज्वलित कर दो। उसके प्रकाश में मैं निर्भय इस निस्सीम महासागर की उद्भ्रांत तरंगों पर अपनी जीवन-नौका बहा दूँगा, जिससे मेरे उद्-गारों की छाया विस्तार में अपना अस्तित्व खोकर तुम तक अवश्य पहुँच जाय।

लखनऊ
ता० २८ जून, १९४०

सात

प्रकाश

सरिता की गोद में अंधकार शांत सो रहा था। हल्की-हल्की लहरें पवन के स्नेह-चुंबन से सिहर उठतीं, और प्रकाश की खोज में किनारे की ओर चल देतीं—बार-बार जातीं, और लौट आतीं। उनके आवागमन की इस क्रिया में प्रकाश की एक गहरी लालसा छिपी थी।

पृथ्वी पर मैं खड़ा था, मेरे पीछे मेरी अस्पष्ट छाया पड़ रही थी।

दिवस और रात्रि की यह मिलन-वेला प्रकाश को खोकर कितनी भयानक और काली प्रतीत होती थी? किसी के धुँधले व्यक्तित्व की भाँति।

अंधकार के इस छोटे-से संसार में, तुम्हारी स्मृति में बनाए, मेरे कल्पना-चित्र बिखर-बिखरकर नष्ट हो रहे थे। और मैं सरिता के इस सूने तट पर बैठा किसी की प्रतीक्षा कर रहा था।

यह लो, अंधकार की गहरी ठेस से प्रकाश भी जाग

उठा। अचानक कहीं से प्रकाश की एक क्षीण रेखा का प्रस्फुटन हुआ—वह सरिता के वक्षःस्थल पर पड़कर उसकी एक-एक लहर के साथ खेलने लगी। देखते-देखते आकाश में भी अगणित दीपक जल उठे, और प्रकाश के कण होकर वे सरिता की छाती में छिद गए। अंधकार सिमिटकर प्रकाश के अंतस्तल में जा छिपा।

मैं क्या जानता था कि यह प्रकाश तुम्हारा था!

तुम्हारे इस प्रकाश की चकाचौंध में मुझे अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी। तुम्हारी दीप-शिखा की भोली किरणें मेरे मुख पर पड़ रही थीं। पर. उसमें मेरी छाया और भी गहरी और संकुचित हो गई थी।

मैंने भी अपना क्षुद्र दीपक जलाया।

पर, नाथ! वायु के प्रबल झोंके आ-आकर अचानक इसे बुझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैं इनसे इसकी रक्षा कैसे कर सकूँगा? तुम इसमें अपना प्रकाश भर दो, जिससे यह अपने जीवन की कठोर परिस्थितियों में भी जलता रहे, और तुम्हारे उस दैवी प्रकाश में इसकी ज्योति का अवसान हो। इसलिये यहाँ बैठा अपने फटे अंचल से इसकी रक्षा कर रहा हूँ।

नाथ! तुम मेरे इस क्षुद्र दीपक को अपने राजमार्ग की किसी सँकरी पगडंडी पर रख देना, जिससे उस राह पर

आने-जानेवाले इसके क्षीण प्रकाश में अपना मार्ग देख लें। और, इसके अभाव में कहीं घने अंधकार में भटकते न फिरें।

प्रकाश तो तुम्हारा व्यक्तित्व है, और छिटककर फैलना उसकी परिभाषा।

लखनऊ
ता० २६ जून, १६४०

आठ

प्रतिस्पर्धा

वर्षा के बाद चाँदी-सी चमकीली संध्या थी। दो काले मेघों के पर्दे में से सूर्य का प्रकाश झाँक रहा था। उसकी ज्योति चुराकर हल्के बादलों के दल आकाश में इधर-उधर तैर रहे थे। उन्हें क्या मालूम था कि जिस प्रकाश में वे चमक रहे हैं, वह तो वास्तविक प्रकाश की छाया थी? वे व्यर्थ ही सरिता में अपना प्रतिबिंब देखकर फूल रहे थे।

आखिर, झीनी कालिमा को फोड़कर सूर्य निकला। उसके प्रकाश में समस्त विश्व सोने में नहा गया। भला, क्षणिक अंधकार कब तक प्रकाश को अपने हृदय में समेटकर बैठता? यह तो उसका दुस्साहस था।

मैं प्रकृति के उस निर्जन प्रांगण में, विश्व के कोलाहल से दूर, एक अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ा जा रहा था। मेरी कल्पना क्षितिज के उस पार, अनंत लोक में, बादलों के बीच उस नीले, चमकीले पथ पर विचरण कर रही थी।

यह लो, दिन-भर का थका सूर्य अस्ताचल की गोद में

विश्राम करने चला गया। पर, वह अपनी रंग-भरी प्यालियाँ और सुंदर तूलिका वहीं छोड़ गया। अबोध संध्या इन्हें पाकर इनसे खेलने लगी। अपने कोमल करों से तूलिका को रंग-भरी प्यालियों में डुबोकर क्षितिज पर दो-तीन बार यों ही फेर दिया। वे नीली, अरुण, पीली रेखाएँ शून्य में चमक उठीं। संध्या ख़ुशी से खिल उठी, भोली संध्या! यह उसकी निर्दोष प्रतिस्पर्धा थी।

ओ चित्रकार! तेरे कौशल को मैं निर्जीव शब्दों के बंधन में कैसे बाँधूँ? वह इनकी सीमा से परे है, असीम है। मेरी भग्न वीणा के बिखरे तार तेरा वह महान् संगीत कैसे निकाल सकेंगे? मैं तुझे अपने हृदय की टूटी-फूटी भाषा में व्यक्त करूँ, यह मेरा एक झूठा दावा है।

फिर नाथ! मुझे अभिमान क्यों है? क्या इसलिये कि मैं भी तुम्हारा एक अंश हूँ! परंतु, मैं एक अंश होकर पूर्ण की समता कैसे कर सकता हूँ? मैंने आज अपने प्रकृत स्वरूप को बिगाड़ डाला है। यह सोचकर कि मेरी इस सज-धज को देखकर तुम्हारी आँखें भी चमक उठेंगी। पर, क्या तेरे सौंदर्य का अणु-भर भी प्राप्त कर सका? झूठी होड़।

मेरे सर्वस्व! मैं तुम्हारे व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं कर सकता। यह मेरा झूठा दावा है।

इधर मेरी गगनचुंबी वे विशाल अट्टालिकाएँ, ऊँचे सभा-मंडप, विस्तृत प्रांगण, रत्न-खचित खंभे और सुवर्ण-सिंहासन... तेरी किंचित् कृपा-कोर के फल-स्वरूप हैं, न-मालूम बन-बनकर कितनी बार बिगड़ जाते हैं। उधर, सुनहली संध्याएँ, रत्नों-भरी मृदु स्वप्नों-सी रातें, हँसते प्रातः, खिलते वसंत, करुणार्द्र वर्षाएँ, जलती ग्रीष्म और मृदुल शिशिर...तेरा कैसा सुंदर वैभव का संतुलन है ? नाथ ! फिर मैं अपने क्षणिक ऐश्वर्य से उसकी क्या तुलना करूँ।

तेरा सौंदर्य विशाल है, और उसमें स्थिरता भी है, विस्तृत है, और उसमें समता भी है। मैं तुम्हारे व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं कर सकता। यह मेरा झूठा दावा है।

लखनऊ
ता० ३० जून, १९४०

नौ

अभिलाषा

विश्व के कोलाहल से दूर—

अपने जीवन की उस अँधेरी रात्रि में, जब कि विषाद के बादल उमड़-उमड़कर हृदयाकाश को पूर्णतया छाए लेते थे, आत्मा-शशि की आभा उस अवसाद की भीनी कालिमा से कुछ धुँधली हो चली थी...बस, केवल दो-चार तारिकाएँ आशा-दीपों की भाँति इधर-उधर टिमटिमा रही थीं।

जीवन की उपेक्षा से भरी वह रात्रि मेरे निर्मल प्रेम की भाँति आश्रय-हीन-सी थी।

मैं किसी को अपना बनाना चाहता था, किंतु किसी ने मेरे इस अपनत्व' के साथ सहानुभूति न दिखाई।

न-मालूम क्यों संसार को मेरे प्रेम में वासना का भास होता था?

संसार से उदासीन-सा मैं उस समय अपने असंतोष का राग गुनगुना रहा था, तुम मुस्किराते-से आए, और निराशा से भरे मेरे मूक नेत्रों में समा गए।

कैसी निर्मल, मनोहारिणी वह छवि थी ? कितनी उल्लास-मयी वह प्रतिमा थी ?

परंतु:

वह क्षणिक सौम्यतामय झलक...और आज तक नेत्रों से ओझल...?

मेरे हृदयेश ! यह तुम्हारा वरदान था, या कठोर शाप ?

मैं अपने जीवन के उड़ते क्षणों में, अपने उच्छ्वासों के सहारे, आज तुम्हारी चिर-प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

फिर, तुम कभी न आए, मेरे चितचोर !

उस दिन से तुम्हारी खोज में मैंने अपने सूने-से नेत्रों को छान डाला...किंतु तुम न मिले।

पुतलियों ने थिरक-थिरककर अपनी मौन भाषा में उत्तर दिया कि तुम वहाँ नहीं हो...कहाँ छिपे रह गए प्रिय !

नेत्रों को उनके ही पानी की एक-एक बूँद से धोया है, परंतु, अब तुम्हारी वह मनोहर मूर्ति वहाँ नहीं !

अपने प्रत्येक अश्रु-कण से पूछा है, परंतु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। वे अपनी मूक भाषा में धैर्य का संदेश देते चले गए। आँखों से ही आनेवाले आँखों की व्यथा न-जाने कैसा रहस्य है ? प्रियतम ! क्या इसी का नाम विश्व-छलना है ?

आज तुम्हें देखने की अभिलाषा हृदय में पुनः जाग्रत् हो उठी है, हृदय की एक चिर-विस्मृत कसक की भाँति।

अपनी वेदना के भार से दबा कभी-कभी इस विश्व के कण-कण में तुम्हारी ही प्रतिमा व्याप्त देखता हूँ। मैं उसे पकड़ना चाहता हूँ, परंतु, प्रियतम! वह नेत्रों से ओझल हो जाती है। मैं मृग-तृष्णा की भाँति अपनी बेबसी पर आँसू बहाता रह जाता हूँ...

जब,

प्रकृतिदेवी क्षण-क्षण में अपने नवीन वस्त्र बदलकर मानव के सम्मुख आती है—और, भाव-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखती है, उस समय मेरे चितचोर! उसमें तुम्हारी सौम्य मूर्ति अस्पष्ट-सी झाँकती है। तुम उस प्रकृति-सौंदर्य के पीछे रहस्य-से छिपे अपने किस शौक़ की पूर्ति किया करते हो? सृष्टि के साथ क्या खिलवाड़ किया करते हो?

तुम्हें देख-देखकर हृदय में एक हूक-सी उठती है कि मैं भी तुमसे मिलकर यह जीवन का आनंद लूँ...किंतु, अपनी असमर्थता की ओर देखकर हृदय में ही अपनी वेदना दबाए रह जाता हूँ।

जब,

काले-काले बादल समस्त आकाश को अपने अंक में दबाकर

घोर गर्जना करते हैं, बड़े जोरों से कड़कते हैं, तो, उस समय, तुम मानव की कौन-सी भूल पर अपने दाँत पीसते हो ? ऐसा लगता है, मानो समस्त सृष्टि का आज ही अंत कर दोगे...

और फिर,

मेघों के पर्दे में छिपे कभी-कभी बिजली की चमक के साथ अपने दर्शन दे जाते हो।

परंतु, शून्य में से रोता कौन है ? यह क्या रहस्य है, मेरे हृदयेश !

इतना ही क्यों, जब,

मैं अपनी बेबसी पर आँसू बहाता हूँ, तो तुम उषा के पीछे खड़े हो मंद-मंद विहँसते हो। तुम्हारी वह सुनहली मुस्कान समस्त जग को अपने रंग में रँग लेती है। मैं ही अपने जीवन की विषमता के उच्च पहाड़ के पीछे खड़ा निर्वासित-सा तुमको देखता रहता हूँ। इस प्रकार क्यों उपहास उड़ाया करते हो—प्रिय ! क्यों नहीं हृदय-मंदिर में चले आते ?

क्या तुम्हें मेरी सीमाएँ छोटी प्रतीत होती हैं ? ऐसा तो नहीं, मैं अपनी सीमाओं में बँधा भी असीम हूँ। मेरे हृदयेश ! मेरा क्षेत्र तुम तक विस्तृत हो सकेगा, जिसमें तुम भी व्याप्त हो सको...

जो तुम देखते हो, यह तो मेरा संकोच है, किंतु इस

संकोच से परे मैं अनंत ही हूँ। यदि तुम्हारे न आने का यही कारण है, तो मेरा भी रोना यही है कि मैं सीमा-हीन होकर ससीम क्यों ?

तुम असीमता का दावा तो व्यर्थ ही करते हो। प्रिय ! तुम तो मुझसे भी अधिक ससीम हो। मेरे छोटे-से हृदय में तुम सदैव बसे रहते हो। किंतु, मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम छिपे क्यों रहो ? मैं तो हृदय से तुम्हें बाहर निकालकर स्पष्ट देखना चाहता हूँ। क्या मेरी यह छोटी-सी अभिलाषा स्वीकृत न होगी ? हृत्तंत्री का यह गीला राग तुम तक न पहुँचेगा ?

न, हृदयेश ! मेरी सुमधुर भावनाओं का यह संसार यों ही न उजड़ जाय...

मेरी भोली अभिलाषा का इतना तिरस्कार न करना... जीवन-धन !

मसूरी
ता० ६ जून, १९४०

दस

'? ? ?'

हे दिव्य पुरुष ! आज आप कहाँ जा रहे हैं ? इसके पूर्व तो कभी आपको इस सज-धज और उद्वेग से जाते न देखा था, बताओ भी तो ..?

उत्तर मिला—क्यों ?

मन कुछ क्षुब्ध हुआ—आंतरिक भावना हृदय में ही सिसकने लगी। परंतु, उसी क्षण पवन के एक शीतल झकोरे ने निराश हृदय में आशा-प्राण संचारित कर दिया।

पथिक ! तुम्हीं बताओ, इस भारी गठरी को सिर पर रक्खे हुए इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हो ? देखो पथिक ! अतीत की जिस सुंदर वस्तु को तुम प्राप्त करने जा रहे हो, वहाँ कुछ भी नहीं है—यह केवल तुम्हारा स्वप्न है। पथिक ! तुम पसीने से लथपथ हो—संभव है, श्रांत भी हो गए हो...गठरी को रख दो, और कुछ समय के लिये इस वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम कर लो। ध्यान रक्खो—पथिक ! वहाँ से निराश होकर आओगे। छोड़ दो इस मृग-तृष्णा को—न जाओ वहाँ पथिक ..!

वृक्षों के झुरमुट में से उत्तर मिला—क्यों...?

सरिते! जीवन की किस विषम वेदना से पिघलकर, आज तुम्हारा हृदय उमड़कर बह रहा है? तुम जीवन का कौन-सा चिर-विस्मृत राग अलाप रही हो—जिसकी निराश ध्वनि अंतरिक्ष से टकराकर शून्य में विलीन हो जाती है—बताओ भी तो अपनी व्यथा...सरिते! तुमने अपना भव्य कलेवर इन पाषाण-हृदय पर्वतों से रगड़-रगड़कर क्यों दुर्बल बना लिया है? जीवन के किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह साधना की है? देखो, तुम्हारी इस अवस्था को देखकर सूर्य तुम्हारा उपहास कर रहा है। अपने उपहास का कुछ भी ध्यान नहीं—बताओ तो...?

क्यों...?

नाविक! तुम्हारी भी तो नाव डगमगा रही है। देखो, उधर अगाध जल है, भँवर में पड़कर क्षीण-विक्षीण हो जायगी। इधर अंधकार-पूर्ण पथ है—जिसमें छिपी हुई बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं...टकरा जायगी नाविक! ले आओ—अपनी नाव उस प्रकाश-पूर्ण सरिता-पथ की ओर...ले आओ।

क्यों...?

उस ओर वे मनोहर पुष्प शीतल-मंद पवन के झकोरों से अठखेली करते हुए कैसे खिलखिलाकर हँस रहे हैं। उन्हें इस

हँसने में छिपे 'पतन' का लेश-मात्र भी बोध नहीं...सुमन! अपने अतीत का ध्यान कर, जीवन में विकास के ये क्षण इस प्रकार न भूलो।

क्यों... ?

और,

मूक नेत्रों में यह 'क्यों' का प्रश्न लिए कौतूहल की दृष्टि से संध्या के डूबते हुए सूर्य की ओर देखता रह गया—जिसकी निराश अरुणिमा में प्रश्न का उत्तर मौन अवस्था में रहस्य-सा छिपा प्रतीत होता था...

बरसाना
ता० ७ जून, १९३८

'हृदय और मस्तिष्क'

ग्यारह

रोड़ा

जी हाँ, आपको बुरा लगा न, इसका मार्ग में होना—तब...?

यह अपना 'अपनत्व' कैसे छोड़े, यह मुलायम कैसे बन जाय! और, यहाँ से हटे भी कैसे—और हटे भी, तो जाय कहाँ?

आप चाहें, तो हटा दें। तब तो यह 'रोड़ा' न रहेगा?

गिर पड़ा है—न-मालूम कहाँ से छूटकर—थका-सा। आपको इसकी शांति क्यों इतनी दुःखकर प्रतीत होती है? पड़ा ही तो है—एक किनारे......

फिर......?

यह तो आपने अपने स्वार्थ की दृष्टि से सोच लिया। ज़रा अब इसकी दृष्टि से भी सोचने का प्रयत्न कीजिए। आपके स्वार्थ की भाँति इसका अपना निजी दृष्टिकोण है। यह विशाल शैल से अपना 'अस्तित्व' अलग रखने के लिये यहाँ आ पड़ा है। तो क्या इसी से 'रोड़ा' हो गया......? आप उसे अपने निजी 'अस्तित्व' में क्यों नहीं देख सकते...... ?

आप पहाड़ को तो ऊँचा, विशाल कहते हैं, यह ठीक है।

किंतु इसे आप 'रोड़ा' क्यों कहते हैं—ठोकर क्यों मारते हैं? क्या उस 'उँचाई'—उस 'विशालता' की यह इकाई नहीं था—जो अब 'रोड़ा' है। आप इस विडंबना पर क्यों नहीं सोचते? अपना अलग 'व्यक्तित्व' रखना ही 'रोड़ा' बना देता है......? आप भूल करते हैं। किंतु इससे क्या? 'व्यक्तित्व' तो अलग रक्खा ही जाना चाहिए।

पहाड़ों को 'रोड़ा' क्यों नहीं कहते? उनको भी 'रोड़ा' कहो, किंतु उस 'रोड़े' का दूर करना तुम्हारी शक्ति से बाहर है। वे विशाल हैं, पर्वत हैं......इस पर तो अपना बल प्रदर्शित कर सकते हो, इसीलिये तो अपनी भाषा में इसे 'रोड़ा' कहा; किंतु इस 'रोड़े' की भाषा में तुम क्या होगे, यह मालूम है......?

......कौन जाने?

निर्झर में तुमको जीवन, स्फूर्ति मिलती है, जो इनको काटता है, इन्हें यहाँ लाकर डाल देता है, और छिन्न-विच्छिन्न कर पीस डालना चाहता है। उसमें आपको कलकल राग और दार्शनिक को जीवन-रहस्य मिलता है—

क्या उसमें तुम्हें 'रोड़ा' के दर्शन नहीं होते......?*

सहस्रधारा
ता० ८ जून, १९३८

---

* सा० 'अर्जुन' में प्रकाशित।

बारह

'इधर या उधर'

एक दिन धूमिल संध्या का समय था—सम्मुख उत्तुंग पर्वत-शृंखलाएँ खड़ी थीं, जो अभी वर्षा में पूर्ण स्नान कर चुकी थीं। अब भी उन पर झीनी-झीनी बूँदें पड़ रही थीं। बादल के छोटे-छोटे टुकड़े उनकी चोटियों पर बैठे हंसों के जोड़ों के समान प्रतीत होते थे। चारो ओर हरीतिमा थी। पार्श्व में नदी कल-कल करती बह रही थी—मंद-मंद गति के साथ—बड़े आनंद से...

उसे देखकर निर्झरिणी बोली—

"सरिता बहन! बड़ी तीव्रता से जा रही हो...बताओ भी तो, कहाँ ?"

"आओ न, बहन निर्झरिणी, चलें। मेरे साथ चलो। बड़े आनंद और सुविधा-पूर्वक। यहाँ क्या कर रही हो ?"

वह कुछ क्षण सोचती रही...बोली—

"बहन! कुछ देर रुको...सोचने भी दो।" और पुनः विचार-निमग्न हो गई। . .

"तुम तो बड़ी भोली हो, निर्झरिणी ! भला, मुझे रुकने का अवकाश कहाँ ? मुझे तो जीवन-भर निरंतर चले जाना है। क्या सोच-विचार कर रही हो ? देखो न, तुम्हारी बहुत-सी बहनें मेरे पीछे आ रही हैं। और...? मैंने बहुत कुछ रास्ता देखा है, तथा आगे बनाने की मुझमें क्षमता भी है। तुम यह नहीं कर सकतीं—निर्झरिणी ? तुम अभी छोटी हो—अनभिज्ञ तथा अनुभव-हीन हो। क्यों, आओ न ..?"

"सरिते ! मुझे तो यह रास्ता ठीक नहीं मालूम देता। मैं सोच लूँ, मैं दूसरा बनाऊँगी...आप जाओ, बहन। तुम्हारे पास जाकर मैं फिर 'मैं' कहाँ रहूँगी। और, शायद मेरा रास्ता ही ठीक हो..."

"खैर, तुम्हारी इच्छा। मैं तो जाऊँगी ही, आओ, अथवा न आओ। मैं कैसे ठहर सकती हूँ ! इतने जो मेरे पीछे आ रहे हैं—तेरे भाई निर्झर भी तो......मुझे क्या करना, हाँ, तो क्यों रुकूँ ? रुकने में तथ्य कहाँ ? इतना तो अवश्य सच है कि तुम नहीं जा सकतीं। और, आगे कैसा भी रास्ता हो, मुझे तो जाना ही है। मेरे पीछे बहुत हैं। मैं चुनाव नहीं कर सकती। और, अब समय भी कहाँ है चुनने का ? नहीं, मैं पक्के स्थल पर हूँ, पहले अच्छे प्रकार सोच-समझ लिया है। तुम... ? तुम जैसा चाहो, वैसा करो। मुझे तो हर

दशा में जाना है। तुम्हारी मर्जी है, मेरे साथ चलो अथवा न चलो।"

शीतल, मंद पवन के चुंबन से वह सिहर उठी, और शून्य में वही कलकल निरंतर गुंजित रही......

निर्झरिणी दूसरी ओर चली......।

"जा रही हो, बहन निर्झरिणी ?"

"हाँ, बहन ! तुम और सोचो...।"

"न, निर्झरिणी ! मैं अब सोच भी तो कैसे सकती हूँ, और सोचने का अवकाश कहाँ ? पहले सोच लिया, तभी तो सबको लेकर चली......"

और उसे पीछे छोड़ गई......।*

हरिद्वार
ता० ६ जून, १६३६

---

* सा० 'अर्जुन' में प्रकाशित।

तेरह

जीवन-समस्या

लाज से भरे, अपने मुख-मंडल पर अरुण अंचल डाले, नववधू उषा प्रकृति-प्रांगण में आकर विहँसी ही थी कि रश्मि, थिरकती-सी, नाचती हुई, उसका प्रेम-संदेश विश्व को देने चल दी। वह अपने जीवन के विस्तृत क्षेत्र को तय कर, निराशा-सी पृथ्वी पर गिरना ही चाहती थी कि नीचे सरिता जीवन का एक करुण राग अलापती, मंद-मंद चाल से, जा रही थी...... उसने उसे बड़े प्रेम से अपने वक्षःस्थल से लगा लिया। अपनी कोमल लहरों से उसे सांत्वना देती हुई बोली—

"कहो बहन ! थक गई होगी ?"

"नहीं तो, मेरे जीवन का अर्थ ही यह है बहन ! यह उत्थान-पतन ही तो मेरे जीवन की सीमाएँ हैं, फिर क्या थकना...?"

"रश्मि ! जब तुम ऊपर से नाचती हुई पृथ्वी पर उतरती हो, तो क्या तुम्हें इसका ज्ञान होता है कि मैं कहाँ गिर रही हूँ ? वास्तवमें तुम्हारा जीवन एक अद्भुत पहेली है। जिस समय

जीवन का विकास होता है, उस समय तुम नीचे गिरती हो, और जीवन के अंतिम क्षणों में ऊँचा चढ़ती हो...।"

"तुम तो बड़ी भोली हो सरिते! यह तो जीवन का एक कड़वा घूँट है, जिसे विश्व, न-मालूम, संसृति के किस युग से अन्यतम सत्य मानकर पीता चला आ रहा है। वह इस पहेली को अब तक सुलझा थोड़े ही पाया है बहन? गिरना शोभा नहीं देता.. यह क्षोभ की बात है। किंतु अपने जीवन की बेबसी के सम्मुख विवश हूँ। गिरकर ही मेरे जीवन का विकास होता है, सरिते! यह कोई क्या जाने? यही तो मेरे जीवन का भीषण असंतोष है......।"

"इसमें इतना दुखी होने की क्या बात? रश्मि! ऐसा असंतोष किसके जीवन में नहीं, मेरी ओर ही देख। निरंतर चलते रहना ही मेरा जीवन है। तुमको तो अपने जीवन में कुछ विश्राम अवश्य मिल जाता है, किंतु यह मुझे कहाँ प्राप्त? प्रिय! मेरा ध्येय बहुत दूर है, जहाँ मुझे पहुँचना है। अपनी वेदना में स्वयं बँधी-सी निरंतर चलती रहती हूँ...न-मालूम, इस लंबे जीवन में उपेक्षा और असहानुभूति से भरे कितने दिन आते हैं, और चले जाते हैं। बहन! मेरे और आपके जीवन में साम्य तो इतना ही है कि मैं और तुम, दोनो ही अपने जीवनदाता से बिछुड़कर उससे अलग नहीं, तथा अपने

जीवन के अंतिम लक्ष्य से उसका संबंध करा देती हैं। अन्यथा हमारे जीवन का अस्तित्व ही कितना ?"

"तुम भूल करती हो, सरिते ! जिसे तुम अपना असंतोष कहती हो, वास्तव में, वही तो जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति है। निरंतर गति ही तो जीवन है—विकास है। जहाँ यह गति बँध जाती है, वहाँ जीवन का ह्रास है—उसका संकोच है, सरिते ! और, मेरा जीवन तो बहुत क्षण-भंगुर है। प्रिय ! जिसके जीवन का अवकाश केवल एक दिन हो, वह भी क्या जीवन है ? इसी में बाल-युवा और जरा, तीनों अवस्थाएँ हैं। सच पूछो बहन ! मैं अब इस आवागमन से बिलकुल दुखी नहीं, मैं तो इस दुःख की अभ्यस्त हो गई हूँ..."

"नहीं, प्रिय ! तुम्हें जीवन में इतना तो संतोष है कि तुम जहाँ से आती हो, अपने जीवन के अंतिम दिनों में वहीं लौट जाती हो, किंतु मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं। मैं जहाँ से आती हूँ, उसमें लय होने का अवसर उपलब्ध नहीं। तुम्हारे जीवन के साथ तो इस सृष्टि का जीवन बँधा है रश्मि ! बड़ी भाग्यशालिनी हो तुम !"

"बहन ! मुझे भाग्यशालिनी कहती हो...जिसका जीवन एक क्षण के लिये भी निश्चित नहीं, न-मालूम कब अंत हो

जाय'। जिसका अंत अंधकार में हो, वह भी क्या जीवन में प्रसन्न हो सकती है ? यह तुम्हारा भ्रम है—सरिते ."

"नहीं, रश्मि ! परिवर्तन तो एक उन्नति है। क्या मेरे जीवन-जैसी निरंतरता पसंद करोगी—जो एक बंधन-सा है ।"

"बंधन तो, बहन ! मेरा जीवन है, जो मैं एक स्थान पर बँधी हूँ । आप तो चलती हैं—ख़ैर...आप मेरी अन्य बहनों से मिलोगी, उन्हें भी मेरा संदेश देना। उनके साथ सहानुभूति दिखाना। हम सबका एक साथ अंत होगा सरिते ."

सरिता चलती गई......सोचती जाती थी कि आखिर बंधन कौन-सा है ? जीवन का वास्तविक सत्य क्या है ? और, उसकी यह प्रश्न-भरी ध्वनि निरंतर शून्य में गुंजित रही...

अचानक नभ-मंडल का रंग बदला, पूर्व-दिशा में एक काली घटा उठी ..बड़े वेग से। शीघ्र ही विषाद की भाँति समस्त नभ-मंडल में फैल गई। अंधकार बढ़ता चला, और रश्मि का जीवन भी उस अंधकार में शांत हो गया...एक अनिश्चित जीवन का अवकाश ही कितना ?

विश्व को मिला अंधकार और साथ में शून्य में से झड़ते कुछ अश्रु-कण...?

देहरादून
ता० १० जून, १९४०

चौदह

गिरि

हे संसृति के मौन साधक !

न-मालूम आज किस युग से तुम एक ही करवट पड़े अपनी अटल तपस्या का संदेश मानव को दे रहे हो ?

उतार-चढ़ाव ही तुम्हारे जीवन का अन्यतम सत्य है।

विषाद और वेदना के धुएँ से घिरे, क्षितिज के निकट, तुम मानव के लिये एक रहस्य-से बने हो।

जब,

तुम्हारा हृदय व्यथा से पिघलकर बहता है, तो मानव को उसमें सौंदर्य-दर्शन होता है—उसे उसमें कल-कल राग-मधुर संगीत मिलता है, किंतु वह क्या जाने कि यह तुम्हारी संचित व्यथा है, जो तुम्हारे हृदय से अचानक पिघल निकली है। यही तो जीवन का रहस्य है, हे भोले तपस्वी ! कि आज तुम्हारा पत्थर-हृदय भी आर्द्र हो उठता है...

तुम्हारे विशाल वक्षःस्थल पर पड़ीं, भाग्य-रेखाएँ-सी, ये पग-डंडियाँ विश्व को समय का परिचय देती हैं। तुमने अपने

जीवन में कितनी धूमिल संध्याएँ, कितने सुनहले प्रातः देखे हैं, यह कौन जाने ?

इन पगडंडियों के अंतर् में संसार के उत्थान-पतन का एक विस्तृत इतिहास अंकित है, जो इन पर पड़े मानव के पद-चिह्नों द्वारा लिखा गया है।

न-मालूम इन्होंने मानव को चढ़ाते और उतारते हुए किस अज्ञात लोक में पहुँचाया है, तुमने यह सब मूक बनकर देखा है......

इतना ही क्यों—

तुम्हारे जीवन में भी न-मालूम कितने वसंत आए हैं—कितने पतझड़ हुए हैं .....इस बात की साक्षी तुम्हारे मनोरम कलेवर पर पड़ी ये झुर्रियाँ हैं। मानव इनको देखता है, और चला जाता है।

किंतु तुम .....?

तुम पत्थर का हृदय किए यह सब कुछ सहते रहते हो।

कभी-कभी तो,

हे शैल ! तुम्हारे उर में यह विषाद इतना उमड़ आता है कि तुम दुःखित होकर बादलों में अपना मुँह छिपा लेते हो।

मानव की दृष्टि से ओझल होकर अपने जीवन के अंधकार में, न-मालूम, किस अतीत की स्मृतियों के लिये रोते हो ?

मानव को तो शून्य में से गिरते केवल तुम्हारे अश्रु-कण मिलते हैं। वह इन छलकते अश्रु-विंदुओं में छिपी तुम्हारे सुप्त उद्‌गारों की व्यथा को क्या जाने .....?

किंतु

तुम रोते हो, और खूब जी-भरकर रोते हो। यहाँ तक कि, तुम्हारे ही आँसुओं से, तुम्हारे हृदय का विषाद धुल जाता है।

और......

एक अटल व्रती की भाँति अपना मस्तिष्क ऊँचा किए, अपने भव्य, मनोरम रूप से, फिर मानव को दर्शन देते हो।

वह तुम्हें पाकर अपनी पराजय पर हँस पड़ता है।

तुम मूक उसकी ओर देखते रहते हो......।

न-मालूम, भावों के उत्थान-पतन से, इस प्रकार के विषाद-मय, गहन अंधकार तथा प्रकाश तुम्हारे जीवन में कितनी बार आते रहते हैं।

सच तो यह है कि तुम्हारे इस सूने और शुष्क जीवन को तुम्हारे चिर साथी पक्षीगण अपने कलरव से मुखरित करते रहते हैं। हरे-हरे वृक्ष अपनी हरीतिमा से स्निग्ध बनाते रहते हैं। अन्यथा तुम्हारा यह रूखा जीवन तुमको कभी का भार हो उठा होता गिरि......!

एक क्षुद्र कण के विस्तृत रूप !

तुम्हारा यह एकाकी जीवन और उसके अंदर निहित सृष्टि का इतना अमर करुण काव्य......?

मसूरी
ता० ११ जून, १९४०

पंद्रह

सुमन

प्रिय सुमन,

जब

उषा अपने मुख पर अरुण अंचल डाले प्रकृति-प्रांगण में आती है, और भाव-पूर्ण नेत्रों से तुम्हारी ओर देखती है—

तब,

तुम भी उसकी मुस्किराहट के साथ करुणा से गीले अपने नेत्र खोल देते हो। उस समय तुम्हारे गुलाबी होठों पर भी उदासीनता से भरी एक हलकी-सी मुस्कान खेल उठती है।

किंतु......

तुम्हारे कपोलों पर जो एक-दो अश्रु-बिंदु छलकते दिखलाई पड़ते हैं, वे तुम्हारी अंतर्व्यथा के रहस्य को खोल देते हैं। वे इस बात के परिचायक हैं कि रात्रि में मानव की आँखों से ओझल, न-मालूम, तुम अतीत के किन सुख-स्वप्नों के लिये रोते हो—जीवन की किस अज्ञात हूक से तुम्हारा उर उमड़-

कर तुम्हारे नेत्रों से बहता है ? जिसके प्रतिनिधि-स्वरूप ये अश्रु-कण तुम्हारे कपोलों पर ठहरकर तुम्हारा मर्म प्रकट कर देते हैं। ये बड़े विश्वासघाती हैं, सुमन ! बाहर निकलकर अपना ही रहस्य खोलते हैं......

फिर भी,

ये विश्व की इकाई हैं। इनके अंतर् में पीड़ा का एक विशाल इतिहास निहित है।

परंतु यह कौन जाने...... ?

आज संसार में इनके प्रति कोई भी सहानुभूति नहीं दिखाता। इन पर विश्वास न करो—कहीं इनकी उपेक्षा तुम्हारे जीवन में और भी हलकापन न भर दे ?

जब,

तुम, सौरभ से पूर्ण यौवन की मृदु खुमारी में शीतल-मंद पवन के झकोरों पर पेंगे मारते हुए निराशा और असफलताओं से भरे मानव-जीवन की ओर देखते होगे—उस समय क्या तुम्हें अपने इस क्षण-भंगुर जीवन से संतोष न होता होगा ? कुछ क्षण के लिये जीवन का आनंद तो ले लेते हो।

वैसे तो,

जो आज है, उसका कल अंत अवश्य ही है। यह

तो प्रकृति का अटल नियम है। इसके लिये क्या आँसू बहाना...... ?

पूर्ण विकास और अंत, यही तो सच्चे जीवन की करुण कहानी है। इससे अधिक क्या ?

जब तुम्हारे जीवन का विकास होता है, तब, सुमन ! सब सृष्टि तुम्हारी ओर देखती है। अपनी मधुर सुरभि में अपने 'अपनत्व' को खोकर तुम उसके सहारे विश्व के प्रत्येक अणु तक पहुँचने का प्रयत्न करते हो। यह विस्तार ही तो जीवन का विकास है, और संकोच है उसका ह्रास.........

कल्पना और आशा के रंगीन स्वप्नों में रंग भरते हुए जब किसी विरहिणी के पूजा के थाल में रखकर देवालय जाते हो .....और वह तुम्हें बड़ी श्रद्धा से उठाकर अपने देवता के चरणों पर रखती है उस समय क्या वह तुमसे यह आशा नहीं करती होगी कि तुम उसकी अंतर्व्यथा उसके देवता के कानों तक पहुँचाओगे ? हे वेदना के प्रतिनिधि ! वह तुम्हें, अपनी जीवन-निधि की भाँति, अपने देवता के समर्पण कर देती है। तुम्हीं तो उसके सुख-स्वप्नों के आश्रय होते हो........ ?

इतना ही क्यों—

तुम्हें एक सूत्र में पिरोकर—अपने प्रेमी की चिर-प्रतीक्षा में खड़ी, कोई युवती, अपने हाथों में तुम्हें लेकर, न-मालूम, तुम्हारे कानों में क्या-क्या संदेश अपने प्रियतम तक पहुँचाने को कहती होगी ?

उसके प्रेमी के गले से लिपटकर तुम अपनी मौन भाषा में उससे क्या कहते हो ? यह तो तुम्हीं जानो......

किंतु,

वह तो उस समय चित्र-लिखित-सी तुम्हारी ओर ही एक-टक देखती रहती है। उसके हृदय का बोझ बहुत कुछ तुम हलका कर देते हो—सुमन !

अब इसके लिये यदि तुम्हें कोई तुम्हारी डाल से अलग भी कर देता है, तो क्या ? तुम दूसरों के स्वार्थ की पूर्ति तो कर जाते हो। दूसरों के लिये अपना उत्सर्ग कर देना, यही तो तुम्हारे जीवन के विकास का अर्थ है—

यदि मानव अपनी स्वार्थ-पूर्ति के बाद तुम्हारी उपेक्षा करता है, यह उसके लिये स्वाभाविक ही है। तुम्हें इससे क्यों दुःख होना चाहिए। यह 'ऊँचा-नीचा' तो जीवन में सब ही को देखना पड़ता है। तुमको तो इसी अविचल सत्य के आधार पर अपने जीवन को सार्थक समझना चाहिए . ...

और......?

तुम भी तो अपने यौवन के अल्हड़पन में किसी की उपेक्षा करते हो। भृंग कितनी मधुर भावनाओं से अपने प्रेम की श्रद्धांजलि लेकर तुम्हारे निकट आता है, किंतु तुम कितनी उदासीनता से उसका प्रेम ठुकरा देते हो। तुम्हारे इस व्यवहार से उसकी कोमल भावनाएँ हृदय ही में सिसककर रह जाती हैं। तुम, अपने क्षण-भंगुर सौंदर्य में मस्त, उसके जीवन का अस्तित्व ही भूल जाते हो।

क्या तुम्हें उस समय यह बोध नहीं होता कि तुम्हारा यह सौंदर्य भगवान् भास्कर की एक ही झपेट से कुम्हला जायगा? अथवा मानव की स्वार्थ-पूर्ति के बाद उसके पैरों-तले कुचल दिया जायगा?

इसलिये हे सुमन! यदि तुम्हारा यह अभिमान पिघलकर अश्रु-बिंदुओं के रूप में निकले, तो अस्वाभाविकता ही क्या? इस समय अवश्य तुम्हें रह-रहकर किसी के जीवन की उपेक्षा याद आती होगी......?

कुछ भी हो सुमन! फिर भी जीवन का विकास ही तुम्हारा व्यक्तित्व है, और करुण अंत उसका मूल्य......

मसूरी
ता० १२ जून, १९४०

सोलह

घन के प्रति

उपेक्षा की छाया से बने तुम विश्व को कौन-सा संदेश देने आए हो, घन !

आज तुम्हारा हृदय जीवन के किस संकोच से काला पड़ गया है ?

नभ में निराश, बेहताशा भागे फिरते हो, कहो भी अपनी व्यथा ? इस शून्य में क्या खोज रहे हो...?

तुम्हारा उर तुम्हारे सुप्त उद्गारों से रुँध-सा गया है। तुम्हारे मूक नेत्रों में तुम्हारी वेदना की भाँति अश्रु-कण झाँक रहे हैं, जो जीवन की किन्हीं अज्ञात घड़ियों में निकलकर इस विश्व के सम्मुख तुम्हारे हृदय का मर्म प्रकट करना ही चाहते हैं। आखिर इन्हें कब तक नेत्रों में ही दबाए रक्खोगे—

मेघ !

इस निष्ठुर संसार ने कब किसी की अंतर्व्यथा को समझने का प्रयत्न किया है ? तुम भूल करते हो, दुःख में चीत्कार मारकर व्यर्थ में ही अपना विश्वास खोते हो।

हे जल-राशि ! यह रोना तो तुम्हारे जीवन की प्यास है—विश्व का मिला एक अभिशाप !

तुम किस युग से अपने जीवन के अंधकार-पूर्ण क्षणों में रोते चले आ रहे हो—परंतु क्या अभी तक मानव ने तुम्हारे प्रति सहानुभूति दिखाई है...? मानव को तो तुम्हारे अश्रु-कणों में उल्लास और मधुरिमा प्रतीत होती है, वह तुम्हारे जीवन का रहस्य क्या जाने...?

जब,

तुम अपनी वेदना के भार से दबे शून्य में से आँसू बहाते हो, तो मानव का हृदय हर्ष से खिल उठता है, उसे अपने नीरस जीवन में एक अपूर्व सरसता का भास होता है।

और...

वह अपनी मस्ती के क्षणों में तुम्हारे रोने का संदेश भूल जाता है—घन !

आज उसकी उपेक्षा ही तुम्हारे जीवन में अवसाद का धुआँ-सा बनकर, संसृति के उच्च लक्ष्य, इन पहाड़ों को ढक लेती है। मानव को अपने लक्ष्य के स्थान पर केवल शून्य दृष्टिगोचर होता है, वह उसे भूलकर अपनी पराजय पर हँस पड़ता है। करे भी क्या ? उदासीनता के बल पर ही विजय प्राप्त करे...

मेघ ! तुम्हीं उस समय उसकी इस भूल पर दया से पिघल पड़ते हो। जीवन में 'उच्चता' का अर्थ ही तो यह है, परंतु मानव ने इसे कब पहचानने का प्रयत्न किया है ?

मेघ ! कभी-कभी संध्या की स्वर्णिमा तुम्हारे विषाद में से आशा-सी फूट निकलती है। उस समय तुम्हारा जीवन कितना स्वर्णमय हो जाता है—यह तुम्हीं जानो।

तुम्हारे हृदय में संचित विषाद की कालिमा भी, उस समय, तुम्हारे अतीत के मधुर-रंगीन स्वप्नों से स्वर्णमय हो जाती है। और, कुछ क्षण के लिये तुम अपने जीवन के अंधकार में भी विहँस लेते हो।

परंतु,

मानव तुम्हारे उर का विषाद धुला नहीं देख सकता, यह देखकर उसके हृदय में एक कसक होती है—घन !

जब,

विश्व का विकास होता है—आकाश में तारे आशा से टिमटिमाते होते हैं, चंद्र विहँसता रहता है, मानव भी अपने जीवन की खुमारी में मस्त अपनी रंगीन कल्पनाओं में रंग भरता रहता है . ...

उस समय,

यह देखकर तुम्हारे हृदय में एक हूक-सी उठती है—घन !

तुम्हारे हृदय में संचित मानव का कलुष इतना उमड़ आता है कि तुम क्रोध से पागल हो चीत्कार कर उठते हो। और, घोर गर्जन करके, दाँत पीसते, उस समय समस्त विश्व को अपने विषाद की कालिमा से ढक लेते हो। मानव की बेबसी पर घोर अट्टहास करते रो पड़ते हो...

मेघ! तुम्हारे हृदय की पीड़ा सिहर-सिहरकर झलकती रहती है—और, विश्व की क्षण-भंगुरता में अपना अस्तित्व खो देती है।

तुम्हारे जीवन की यह उदासीनता कभी-कभी द्वेष बनकर निकल पड़ती है—मेघ!

जब,

उषादेवी मुस्काती हुई, सज-धजकर, अपने प्रियतम से मिलने आती है, तो तुम उसे देखकर अट्टहास करते हो। अनंत के उर में छाकर उसके प्रियतम को अपनी ओक में छिपा लेते हो। वह भी लज्जित होकर अपना मुँह अंचल में छिपा लेती है। उसकी मिलन की साधना हृदय ही में तड़पकर रह जाती है......।

इस कृत्य में तुम क्या अनुभव करते हो? इससे तुम्हारे जीवन का असंतोष थोड़े ही दूर हो जाता होगा। मेघ!

हृदय की कमजोरी में, भले ही कुछ क्षण के लिये, अपनी

पीड़ा भूल जाते होगे......परंतु, इससे क्या जीवन की उपेक्षा का भार थोड़े ही हलका हो सकेगा ?

तुम्हें अपने यौवन के मद-भार से पूर्ण वे मिलन भी स्मरण होंगे ? जब सरिता की एक-एक लहर में तुम्हारी प्यास होती है। वह तुम्हारे वियोग में अपने तन को सुखा डालती है। उसकी आशा टूट जाती है, किंतु अपने हृदय में प्रेम की पवित्र साधना लिए वह तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती है।

आखिर,

उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, तुम आते हो...तुम्हें देखकर उसका हृदय आनंद से फूल उठता है, और तुम प्रेम के आँसू बहाते अपने जीवन में खूब मिलते हो—मेघ ! उसकी एक-एक लहर के साथ खेलते हो। उस समय क्या तुम्हारे हृदय में किसी की उपेक्षा एक समवेदना का भाव पैदा नहीं करती... . ?

इतना ही क्यों......

जब,

तुम अपने भावों में मस्त क्षितिज की ओर भागते जाते हो, उस समय तुम्हें देखकर केकी और चातक के हृदय में एक हूक-सी उठती है। वे इकटक तुम्हारी ओर भाव-पूर्ण नेत्रों से

देखने रहते हैं . और, 'आओ-आओ' और 'पी-पी' की ध्वनियों से तुम्हारा आह्वान करते हैं।

तुम्हारा हृदय पिघल जाता है। तुम्हारा कंठ भर आता है। और, प्रेम की दो बूँदें तुम्हारे नेत्रों से निकल पड़ती हैं। उस समय वे आनंद में विभोर करने लगते हैं...

वे तुम्हारे जीवन के कितने करुण क्षण होते हैं—मेघ! यह तुम्हीं जानो...

मानव जीवन के इस रहस्य को क्या समझ सकेगा? उसने कब वास्तविकता को जानने का प्रयत्न किया है? मेघ! वह तो शून्य में से गिरे तुम्हारे अश्रु-कणों को ही पाकर अपने को भूला रहता है...।

हे स्वप्न-लोक-सी दुनिया के सूत्रधार! तुममें जीवन का प्रकाश झाँकता है। तुम दूर से, वेदना के भार से दबे, केवल धुएँ के-से पहाड़ प्रतीत होते हो, किंतु तुम पर्वतों की भाँति पाषाण-हृदय नहीं। करुणा से पिघलना तो तुम्हारे जीवन की एक परिभाषा है।

वास्तव में तुम संसृति के जीवन में रहस्य की एक अमिट रेखा हो...मेघ!

मसूरी
ता० १३ जून, १६४०

सत्रह

यमुना-पुल

हे मानव की कृत्रिमता के आश्रय!

प्रकृति के इस निर्जन प्रांत में, न-मालूम कब से, अपना एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हो?

आज तुम्हारे सब अरमान पाषाण-से कठोर होकर पड़े हैं—जिनको कुचलकर मानव कितनी ही बार इस पार से उस पार गया है। परंतु, उसने इनमें छिपी तुम्हारी वेदना को कब अनुभव करने का प्रयत्न किया है......?

तुम उपेक्षा के घूँट पीकर उसके पैरों की ओर देखते रह जाते हो। पद-दलित होकर भी तुमने, अत्यंत प्रसन्नता के साथ, उसे अपने वक्षःस्थल पर चढ़ाकर इस प्रवाह से पार किया है......तपस्वी! जीवन की सच्ची साधना भी तो यही है।

जब,

मानव जीवन के उतार-चढ़ाव की भाँति अनेकों पहाड़ों को लाँघता हुआ आता है—और, वह तुम्हें देखता—तो

उसकी निराश अभिलाषा हरी हो जाती है। वह कुछ क्षण के अपने निरंतर चलने के श्रम को भूल जाता है।

और,

अपने मार्ग में पड़े इस गहरे 'अंतर' को तुम्हारी सहायता से पार करने में समर्थ होता है।

अन्यथा,

न-मालूम, उसके कितने अरमान इस पार ही सिसककर रह जाते ? और, वह अपनी बेबसी पर आँसू बहाता रहता......?

भोले साधक ! तुमने अपने जीवन में बहुत कुछ देखा है—

कभी किसी निराश पथिक के पैरों की धूल तुम्हारे हृदय में समवेदना का भाव जाग्रत् करती होगी, तो कभी मानव के सुख की मस्ती में रक्खे हल्के पैर तुम्हारे हृदय में एक हूक-सी उठा देते होंगे। परंतु तुम मौन होकर यह सब कुछ देखते रहते हो......?

सभी को पार पहुँचाते हो साधक ! करो भी क्या......? यमुना के जीवन में तुमने वेग भी देखा है।

जब वह बड़ी मस्त चाल से, इठलाती, प्रेम का मधुर संगीत अलापती, अपने प्रेमी से मिलने जाती है।

और, उसके जीवन में वे क्षण भी देखे हैं—

जब वह धीमी-धीमी चाल से, श्रांत-सी, अपनी वेदना का रोना रोती जाती है। उस समय उसकी करुण ध्वनि तुम्हारे अंतर् से टकराती है, और तुम अतीत का स्मरण करके जीवन की इस पराजय पर हँस पड़ते हो......।

यह तो जीवन है—पुल। इसमें इन उतार-चढ़ाव का आना तो विश्व का अपना एक निजी वरदान है।

यमुना में उठती इन लहरों को ही देखो .....।

एक-एक लहर आती है, और तुमसे टक्कर खाकर तुम्हीं में विलीन हो जाती है—इस प्रकार, न-मालूम, जीवन की कितनी लहर अब तक तुममें अपना अस्तित्व खो चुकी होगी, यह कौन जाने ?

हे जीवन-संधि ! तुम्हें अपने जीवन के वे क्षण भी स्मरण होंगे—

जब धूमिल संध्या नील वर्ण पर अरुण परिधान पहनकर आती होगी, और भाव-पूर्ण नेत्रों से तुम्हारी ओर देखकर मुस्काती होगी। उस समय जीवन की वे संध्याएँ कितनी सुखकर प्रतीत होती होंगी ? यह तुम्हीं जानो......

तुम अपने मधुर स्वप्नों में मस्त, अपनी रंगीन आशाओं में रंग भरते रहते हो—

उस समय,

तुम्हारे जीवन-साथी विशाल शैलों की चोटियों पर बैठे, बादल के टुकड़े, तुम्हारे उस ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या से काले पड़ जाते होंगे ?

और, फिर कभी,

जीवन के अज्ञात क्षणों में उनके उर का विषाद आँसू बनकर बह निकलता होगा। किसी के क्षणिक सुख को देखकर कौन सुखी होता है—पुल ! यह तो इस जग का नियम-सा है......

तुम आज, जीवन-संधि की भाँति, क्षितिज में, किसी के स्मृति से पड़े—मानव को जीवन में निरंतर पार करते रहते हो।

नहीं तो,

न-मालूम, यमुना का यह यौवन-प्रवाह उसको कहाँ बहा ले जाय ? वह अपने जीवन के इस प्रवाह में पैर नहीं जमा सकता। तुम्हीं उसे अपने ध्येय तक पहुँचने में सहायता करते हो......

वास्तव में तुम उसके बल हो—निर्बल के सहारे हो। किंतु मानव ने तुममें यह कब देखने का प्रयत्न किया है ?

वह तो तुमको पद-दलित करके अपने जीवन में आए

इस प्रवाह को पार करना-भर जानता है। उसे अपनी स्वार्थ-पूर्ति के बाद तुम्हारे व्यक्तित्व का क्या ध्यान ?

उसने कब किसी के प्रति सहानुभूति दिखाई है ?

परंतु,

इसके लिये तुम्हें अपने जीवन का कठिन व्रत न छोड़ना चाहिए। यही तो जीवन का मूल्य है—पुल !

उत्तुंग पर्वत-शृंखलाओं की गहरी खाईं में खड़े इन पादप-पुंजों की ओर देखो, जो सदैव अपना मस्तक ऊँचा किए तुम्हें जीवन के इन कड़वे घूँटों को पीने का आश्वासन देते रहते हैं।

वास्तव में, संसृति के इतिहास में, तुम मानव की उपेक्षा की अमर रेखा हो...पुल !

मसूरी
ता० १४ जून, १९४०

अठारह

केकी के प्रति

प्रेम के प्रतीक !

आज तुम्हारे जीवन में ऐसी कौन-सी स्मृति जाग पड़ी है, जिसके कारण, स्वयं अपने 'अपनत्व' को भूले-से, इस शून्य की ओर देख रहे हो ?

तुम्हारे मूक नेत्रों में अतीत के सुखद स्वप्न अब भी झूल रहे हैं।

बताओ भी, केकी ! जीवन की किस असह्य वेदना से उद्वेलित होकर अपने प्रेमी को टेर रहे हो...?

प्रेम में पागल, तुम लज्जा-वश अपने प्रेमी का नाम भी नहीं लेते ! केवल मन-ही-मन स्मरण करके 'आओ-आओ' की रट में मस्त हो।

किंतु,

मानव तुम्हारी इस तपस्या को क्या समझ सकेगा, उसने सदैव प्रेम में अधिकार देखने का प्रयत्न किया है। केकी !

उसे प्रेम के इस बलिदान का मूल्य क्या मालूम ? वह तुम्हारी साधना के दिव्य आनंद को क्या जाने ?

इस निष्ठुर विश्व के स मुख रोकर क्यों अपना उपहास कराते हो ? यह विश्व तो तुम्हारे इस प्रेम-विभोर में कुछ और देखने का प्रयत्न करेगा। अपने शब्दों में यही कहेगा कि जीवन के दुःखों से घबराकर अपने सहायक को टेर रहे हो।

तुम भूल करते हो, केकी ! वास्तविकता को देखने का इस जग ने कब प्रयत्न किया है ? यहाँ तुम्हें अपने जीवन की इस विह्वलता के प्रति उपेक्षा और असहानुभूति के अतिरिक्त और क्या मिलेगा ? पीड़ा का अस्तित्व ही कितना ..? यही तो जीवन का प्रायश्चित्त है—केकी ! कहीं जीवन का यह भीषण असंतोष तुम्हें प्रेम की राह न भुला दे......

यहाँ, तुम नीचे 'आओ-आओ' की टेर लगाते हो—

और वे......?

वहाँ शून्य में से अपने प्रेम के आँसू टपकाते हैं, किंतु तुम दोनो प्रेमी आज मिल नहीं पाते—केकी !

वे कैसे नीचे आ जायँ ? यदि आज वे नीचे आ जाते हैं, तो उनका 'व्यक्तित्व' ही कहाँ रहेगा ? तुम्हीं ऊँचा उठने का प्रयत्न करो—अपने इन बंधनों को तोड़कर प्रेम के परों से उस अनंत की ओर उड़ जाओ—वे वहाँ अवश्य मिलेंगे।

तुम्हें ज्ञात नहीं—केकी ! कि तुम भी उन्हीं की भाँति असीम हो। केवल इन बंधनों में जकड़े हुए हो, इनसे परे वही आकाश . ...

यह तो इस जीवन का अभिशाप है कि :तुम्हें सीमित होकर अपने प्रेमी के लिये रोना पड़ता है। यह 'रोना' तो विश्व का वरदान है।

केकी ! यह जीवन की एक विडंबना है कि तुम नहीं मिल पाते। तुम्हारा वह अनुराग हृदय में ही रह जाता है।

मानव मिलने भी क्यों देने लगा ? वह तुम्हारी प्रेम की पीर क्या जाने ? जब कि तुम्हारे प्रेमी के आँसू उसके जीवन हैं, वह इन आँसुओं को देखकर प्रसन्न होता है......?

किसी के आँसुओं से खेलना तो विश्व का एक साधारण नियम है, और है यहाँ का एक रहस्य......

जब,

मेघों का उर तुम्हारे विषाद से काला पड़ जाता है, तो दामिनी, तुम्हारी स्मृति-सी बनी, रह-रहकर उनके हृदय में एक हूक-सी कौंधती रहती है। वह तुम्हारे प्रेम की अमर लकीर उनके जीवन में आशा-सी होती है, जिसे वे अपनी जीवन-निधि की भाँति हृदय से चिपटाए रहते हैं।

और,

तुम्हें उसमें क्या मिलता है, यह तुम्हीं जानो—केकी! वह प्रकाश-रेखा तुम्हारे प्रेम की सुप्त प्रतिनिधि उनके उर में है, जिससे वे अपने जीवन के गहन अंधकार में भी विहँसते-से प्रतीत होते हैं। अन्यथा, जीवन कभी का भार हो गया होता।

कभी-कभी तो,

वे भी, तुम्हारी भाँति, प्रेम के आवेश में घोर चीत्कार कर उठते हैं, । जिसकी ध्वनि तुम्हारे उर में समवेदना बनकर एक कसक-सी पैदा कर देती है।

और तुम......

आनंद में विभोर, नाचते-से उनका 'आओ-आओ' कर आह्वान करने लगते हो।

किंतु,

आज तुम किस युग से टेर रहे हो—परंतु क्या अभी तक तुम्हारी वह अभिलाषा पूर्ण हुई है—केकी! यहाँ तो यही जीवन का रोना मिलता है। यह विश्व तुम्हारे हृदय की परख क्या जाने? इसे तो तुम्हारे निर्मल प्रेम में भी वासना के दर्शन होते हैं......

जीवन के उन सुंदर क्षणों में—

जब समस्त संसार आनंद में मस्त होता है—उस समय तुम्हीं उपेक्षित-से देखते रहते हो। तुम अपनी ओर देख-

देखकर अपने अश्रुओं से ही अपनी निराश आशाओं की तृप्ति करते हो।

जब उषा विहँसती हुई, इठलाती-सी, प्रकृति-प्रांगण में आती है, और अपने अरुण अंचल से अपने प्रेमी की ओर देखकर, लाज-भरे, अपने प्यासे नेत्र छिपा लेती है—तब, यह प्रेम-मिलन देखकर तुम्हारे हृदय में, न-मालूम, कितनी भावनाएँ सिसककर रह जाती होंगी...यह कौन जाने ? उस समय तुम्हीं, एकाकी-से, उसकी ओर भाव-पूर्ण नेत्रों से देखते रह जाते हो—अपनी बेबसी पर आँसू बहाते।

जिस वन में तुम रहते हो—

वहाँ वन-बेलियाँ अपने द्रुमों के वक्षःस्थल से लिपट-लिपटकर अपने यौवन के मधुर स्वप्नों में कितनी मस्त हैं ? किंतु तुम्हारे यौवन की मस्ती आज तुम्हारे नेत्रों से पिघलकर निकलती रहती है। तुम टुकुर-टुकुर उनकी ओर देखते हो, और हृदय में एक अभिलाषा दबाए रह जाते हो...करो भी क्या ?

इतना ही नहीं—

केकी ! उधर तुम्हारे प्रेमी के हृदय में भी ऐसी ही पीड़ा होती है । उनके उर में संचित तुम्हारा यह प्रेम नेत्रों की राह आँसू बनकर गिरता है। क्षोभ से उनका भी हृदय काला पड़ जाता है, समस्त जीवन-वेदना के धुएँ से भर जाता

हैं। वे भी उदासीनता-भरे नेत्रों से तुम्हारी ओर देखते रहते हैं।

किंतु,

यह विश्व का 'ऊँचा-नीचा' आज तुम्हारे प्रेम में एक अपार व्यवधान उपस्थित कर देता है, जिसमें तुम्हारे प्रेम का एकीकरण भाव अपना अस्तित्व खो बैठता है......

कुछ भी हो, केकी!

ऊँचों के हृदय पत्थर के होते हैं।

इन उत्तुंग पर्वत-शृंखलाओं को देखो—

जो तुम्हारे प्रेमी से, न-मालूम, अपने जीवन में कितनी बार मिलती रहती हैं—किंतु इन्होंने कभी तुम्हारा संदेश उन तक पहुँचाया है—क्या तुम्हारी अंतर्वेदना कभी इन्होंने कही है, केकी! इन्हें किसी की क्यों चिंता होने लगी? ये अपनी 'उच्चता' के लिये अपना हृदय पत्थर किए हैं। यदि इनका पाषाण हृदय न होता, तो इन्हें यह उच्चता भी तो न प्राप्त होती......केकी! जीवन में, प्रेम की पवित्र साधना में मर जाना अच्छा, किंतु तुम ऐसी उच्चता तो, संभव है, न चाहोगे।

तुम्हें विदित नहीं कि मानव को तो इनकी इस उच्चता में बड़ा आनंद आता है, उसे इसमें स्फूर्ति और सौंदर्य के दर्शन

होते हैं। क्यों न हों...? उसने भी किसी की वेदना के प्रति कब सहानुभूति दिखाई है?

किंतु,

इस उच्चता के नीचे क्या आधार है? गहरी खाई... मानव का चरम पतन...?

तुम्हारा प्रेमी भी तो अपने यौवन के दिनों में तुम्हें भूल जाता है—

जब,

उनके जीवन की मधुर स्वप्नों से भरी रात्रि होती है, अनेकों आशा-तारिकाएँ विहँसती रहती हैं, जीवन-शशि मुस्किराता रहता है, समस्त विश्व अपने यश-सा, दूध से धुला, श्वेत प्रतीत होता है...वे उसमें तन्मय हो जाते हैं।

परंतु,

जब तुम करुण ध्वनि में 'आओ-आओ' की टेर लगाते हो, तब तुम्हारी स्मृति से उनका उर विषाद से भर जाता है। अतीत का सुप्त प्रेम जाग्रत् हो उठता है। प्रेम में विह्वल वे अपनी भूल पर आँसू बहाने लगते हैं, पागलों की भाँति प्रेम में चीत्कार कर उठते हैं—

और, फिर वही करुणा से भरा जीवन......

उस समय तुम होते हो, और तुम्हारा प्रेमी। सब सृष्टि पर

तुम्हारे विषाद की कालिमा छा जाती है। जीवन के उन अंधकार-पूर्ण क्षणों में तुम और तुम्हारा प्रेमी रोते हो। और, रोकर अपना-अपना हृदय हल्का कर लेते हो। मानव को तो यह भी नहीं प्राप्त।

केकी ! जीवन में ये आँसू पिघलना भी जानते हैं, और कठोर होकर जमना भी। तुम क्यों न अपनी वेदना दबाए प्रेम की साधना करते रहो ?

अरे ! जिसे तुम टेर रहे हो, वह तुममें ही है। अपने सुंदर रूप से परे उसे प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? जो आँसू बनकर पिघलता है, यह वही है, किंतु तुम प्रेम में पागल यह नहीं देख पाते।

यही तो विश्व की आत्मछलना है—केकी ! विह्वल होकर रोना तो और भी जीवन का भरम गँवाना है......

मसूरी
ता० १५ जून, १६४०

उन्नीस

भूल

मेरे हृदयाकाश में उमड़े वेदना के बादल अपने आँसू बहा चुके थे...

इसके बाद जीवन की सुनहरी संध्या हुई थी। उसमें उपेक्षा-सी ऊँची पर्वत-श्रृंखलाओं पर, कहीं-कहीं, अब भी कुछ विषाद के बादल घिरे हुए थे—किंतु, उनसे ऊँचे तो ीवन का सुनहला प्रकाश झाँक रहा था।

काले विषाद के बादलों के बीच से झाँकती वह सुनहली आभा विषाद में आशा-सी लगती थी।

अरुण-नीले रंग, श्यामलता का पुट लिए, मानव को एक रहस्य-से प्रतीत होते थे। क्षण-क्षण पर बदलते वे रंग मानव-जीवन के क्षणिक परिवर्तनों की सूचना दे रहे थे—संसृति की उड़ती श्वासों में एक परिवर्तन का इतिहास लिपि-बद्ध कर रहे थे...

ऐसा लगता था, मानो प्रकृति विभिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करके मुझे छलना चाह रही हो।

मैं अचेतन-सी उस प्रकाश की ज्योति में जीवन के एक लक्ष्य की ओर संकेत देख रही थी कि एक ध्वनि आई—'कुउः' और अंतरिक्ष में विलीन हो गई...

मेरे मधुर स्वप्नों की मस्ती में इस ध्वनि ने एक कसक उत्पन्न कर दी। जिसे मैं भूलने का प्रयत्न कर रही थी, उस दबी वेदना को पुनः हरा कर दिया।

और,

नेत्रों के बेसुध अश्रुओं की भाँति, अंतर् में अनेकों सुप्त उद्‌गार फूट निकले।

मुझे अपने जीवन की विवशता पर मुस्किराहट आ गई।

इस 'कु' में, मेरी भाँति, कुछ 'सु' देखने का प्रयत्न क्यों नहीं करती—प्रिये! क्या यह सब संसार 'कुउः' ही है?

न-मालूम, संसृति के किस अनंत युग से तू यही कहती आ रही है। परंतु, क्या मानव तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर अब तक दे पाया है?

फिर,

यह जीवन का रोना कब तक रोती रहेगी—कोकिल!

मानव, अपनी निराशाओं से घिरा तथा अनेकों कठोर बंधनों में जकड़ा, कुछ क्षण के लिये, यह भी भूलना चाहता है—वह अपनी मस्ती के क्षणों में तुम्हारी यह 'कु' कब सुनने

लगा—पिक ! उसे तुम्हारी इस 'कु' में भी मधुरता का आनंद आता है—वह तेरी यह 'कु' भूलना चाहता है...

आज वह तुझे सचाई कहने से रोककर अपने को भ्रम में डाले रखना चाहता है—कोयल ! तभी तो तुझे इस विश्व में इतने यश का भागी बनाया है...?

परंतु,

तू इस रहस्य को क्या जाने कि क्यों उसे तेरी इस 'कु' में भी 'सु' के दर्शन होते हैं—अन्यथा 'कु' में सुरीलापन-माधुर्य भी क्या ?

मानव तुम्हारा सम्मान करता है—अपने जीवन की वास्तविकता के दर्शन करने से घबराकर।

वह भूल करता है।

किंतु, तुम्हारे जीवन में ऐसी कौन-सी उदासीनता है, जिसके कारण तुझे संसार 'कु' ही दीख पड़ता है। क्या इस 'कु' से परे तुझे कभी 'सु' न दिखलाई पड़ा ?

विश्व के जीवन में पतझड़ के बाद जब वसंत आता है—प्रकृति में एक नवीन स्फूर्ति संचार करने तथा उसे नवजीवन प्रदान करने .....

तो, तुझे उस उल्लासप्रद वसंत में भी क्या विकास और प्रकाश की सच्ची मनोरम झाँकी नहीं होती ? प्रकृति के उस

सांस्कृतिक जीवन के संदेश में तुझे 'सु' की अभिव्यक्ति नहीं मिलती ?

तू उस विकास के समय में भी 'कु' का ही राग अलापती है—पिक ! तू सबको क्यों अपने रंग में ही रँगा देखती है ?

अपने दोषों पर प्रसन्न होनेवाली तू इस 'सु' के अर्थ को क्या समझे...?

कोकिल ! तुझे मेरे जीवन की विषमताओं का क्या ज्ञान ? आज तू मेरे हृदय की व्यथा जाने भी क्या ?

तुझे तो अपनी वेदना की भाँति संसार के कण-कण में 'कु' दीखता है।

तेरे लिये 'सु' हो भी कैसे ?...

जिसका जीवन कभी मातृ प्रेम की पावन धारा से स्निग्ध न हुआ हो, वह 'नारीत्व' का महत्त्व भी क्या पहचान सकेगी ? दूसरों का बुरा चाहने में ही उसे मिठास अनुभव होगा।

तू नहीं जानती पिक !

स्त्री स्त्री भी है, और उससे परे माता। उसके प्रेम में आवेश भी है—कोमलता भी है, और है एक अमर बलिदान।

परंतु, तूझे इसका क्या बोध ?

जब इस सृष्टि की कृत्रिमता ने तुम्हारे अंतर् में 'कु' का

एक महान् राग भर दिया है, तो तू उसकी वास्तविकता की खोज भी क्यों करने लगी ?

तू अपनी धुन में मस्त है—और, मानव अपने स्वप्न-संसार में।

सत्य तो यह है—कोकिल ! कि भ्रम में पड़ा यह जग यश-विहीनों को यश देकर अपने को और भ्रम में डालता है—

और, सत्य है तेरी 'कु' भी...

मसूरी
ता० १६ जून, १६४०

बीस

प्यासा पथिक

भगवान् भास्कर लाल-लाल नेत्र निकालकर विश्व की ओर निहार रहे हैं, उनके क्रोध से समस्त विश्व जल-सा रहा है। पवन ने भी उग्र रूप धारण कर रक्खा है, वे अपने तीखे झोंकों से मानव-हृदय को बेधे डालते हैं। पशु-पक्षी भी गर्मी की इस ताप से व्याकुल होकर अपने-अपने स्थानों में छिपे पड़े हैं।

परंतु, ऐसे समय में—

तुम: नीरव धीमी चाल से, जीवन के एक अज्ञात लक्ष्य की ओर, उस कठिन मार्ग पर तीव्रता से बढ़े चले जा रहे हो। ऐसी कौन-सी जीवन की अनुभूति है, जो तुम्हें खींच रही है—पथिक!

इस विश्व से उदासीन-से तुम जीवन के कौन-से अस्फुट—भूले राग गुनगुना रहे हो, जिनकी निराश ध्वनि अंतरिक्ष में टकराकर वहीं विलीन हो जाती है। करुणा से प्लावित तुम्हारे पागल उच्छ्वास महाशून्य में चक्कर खाकर फिर यों ही लौट आते हैं—युवक!

तुम्हारे मुख-मंडल पर अवसाद की एक गहरी रेखा-सी

खिंची हुई है, जो इस बात की द्योतक है कि तुम जीवन में चलते-चलते अब थक चुके हो......

तुम्हारे ओष्ठ सूखे हुए हैं—जो तुम्हारी लंबी प्यास के प्रतीक हैं। नेत्र रिक्त-से पड़े हैं, जो उपेक्षित-से, अपनी मौन भाषा में, प्यास बुझाने की प्रार्थना-सी कर रहे हैं—

किंतु,

तुम्हारी यह संबल-हीन प्यास कौन समझ सकता है—पथिक! आज सबके हृदय-घट खाली पड़े हैं—न-मालूम किस युग से?

युवक! जीवन के किस उद्देश्य की पूर्ति में तत्पर अपने घर से निकले हो—कहो भी, कहाँ से आते हो—और किधर जाते हो......?

क्यों..........कोई उत्तर नहीं?

हो भी कैसे? तुम तो केवल चलना जानते हो—पथिक! मानव-जीवन के इस रहस्य का तुम्हें क्या ज्ञान?

यह संसार तुम्हारी प्यास न बुझा सकेगा—इसने किसकी प्यास बुझाई है—युवक!

न-मालूम, कितने मरुस्थल, एक युग से, अपने जीवन की प्यास लिए, मुँह फाड़े, एक ही करवट पड़े हैं, किंतु, उनकी प्यास क्या अब तक बुझ पाई है? यहाँ तो जीवन में प्यास और बढ़ती ही है—पथिक!

तुम भूल करते हो, युवक !

संसार की दृष्टि में तुम्हारी प्यास का अस्तित्व ही कितना ? इसने तो अपने शब्दों में प्यास का अर्थ 'तृष्णा' किया है.........जो मानव के संकोच का दिग्दर्शन कराता है।

यह तो युग-युग से इस प्यास का अनुवाद 'तृष्णा' ही करता आया है—और, इस तृष्णा को कम करने का उपदेश भी देता आया है—पथिक ! परंतु, इसे पालन करने में, अपने जीवन में कितना सफल हो सका है—यह कौन जाने .. ..?

इस निष्ठुर विश्व ने तो नेत्रों के पानी से ही प्यास बुझाना सिखाया है—पथिक !

अपनी वेदना से पिघलकर जब मेघ शून्य में रोते हैं, तो उनके अश्रु-कणों से यह पृथ्वी अपनी प्यास बुझाती है।

रात्रि, अपने प्रातम के वियोग में जो विरह के आँसू टपकाती है—उन अश्रुओं से सुमन अपने जीवन की प्यास बुझाते हैं।

फिर,

तुम भी क्यों न अपने नेत्रों का पानी पीकर ही अपनी प्यास बुझाओ।

पथिक ! व्यर्थ में क्यों अपना उपहास कराते हो ? यह तो इस जग का एक अटल नियम-सा है—और है मानव-जीवन को मिला एक भीषण अभिशाप।

फिर, पथिक ! यह जीवन भी तो क्या है ? यह भी तो एक प्यास ही है, उसका संचित रूप है।

इसमें, न-मालूम, यौवन की कितनी सुनहली संध्याएँ आ-आकर मनुष्य की प्यास बुझाने का प्रयत्न करती हैं, किंतु क्या कभी उनसे मानव की प्यास बुझ पाई है ? उस समय उसने अपने उर में छिपी अंतिम प्यास को बुझाने का प्रयत्न किया है ?

किंतु,

जब जीवन की दोपहरी होती है, तब मानव उसकी ताप से अकुलाकर अपने सूखे ओष्ठ खोल देता है—और निराश नेत्रों से कहता है कि 'मैं प्यासा हूँ.........'यह है इस जीवन का रहस्य।

यहाँ से प्रत्येक को यह साधना लिए जाना पड़ता है कि 'मैं प्यासा हूँ।' न-मालूम, कितनी प्यास उर में दबी रह जाती है—युवक !

जीवन की इस प्यास ने मानव को संसृति के आदि युग से हैरान कर रक्खा है—वह यह प्यास का प्रश्न अभी तक हल थोड़े ही कर पाया है ....?

अपने आशाओं से घिरा, इस प्यास को समझने में वह स्वयं ही असमर्थ है। ससीम में असीम प्यास है।

यह प्यास तो जीवन का एक वरदान है—पथिक ! तुम स्वयं किसी की प्यास हो तुम्हारी कोई क्या बुझाएगा......?

पथिक ! तुम्हें अभी चलना है—यहाँ की मृग-तृष्णा में मत फँसो।

यदि तुम इस संसार की मृग-तृष्णा की ओर बढ़े, तो तुम्हें यहाँ के कण-कण में अपनी प्यास के दर्शन होंगे। फिर यह प्यास बुझने की नहीं। न-मालूम, तुम्हें यह मृग-तृष्णा कहाँ खींच ले जाय ?

और,

संभव है, तुम अपना पथ भूल जाओ।

इसलिये अपने उद्देश्य की ओर बढ़ो। वही तुम्हारे जीवन का उपहार है।

इस संसार से कोई आशा न करो.........न-मालूम, यह किस अज्ञात युग से अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न कर रहा है—परंतु, क्या अभी तक इसमें सफल हो सका है ?

तब,

तुम्हारी प्यास क्या बुझाएगा—जब कि यह स्वयं प्यास है.........?

मसूरी
ता० १७ जून, १६४० }

इक्कीस

एकाकी तारा

जिसके जीवन में मधुर रंगीन स्वप्नों का अपना एक निजी संसार था, जिसका हृदय सदैव आशा-दीपों से आलोकित था, जहाँ सदैव वसंत ही रहता......?

हे लुटे वैभव के प्रतीक !

आज तुम्हारा वह सब ऐश्वर्य, वह सौंदर्य किस निष्ठुर ने लूट लिया ?

तुम एक निर्वासित की भाँति, किस असह्य वेदना के भार से दबकर, अकेले ही निकल पड़े हो—ज्योतिर्बिंदु !

तुम्हारे कांति-विहीन मुख-मंडल पर विषाद और निराशा के भाव, मानव के उत्थान-पतन की भाँति, स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। कहो भी, अपनी अंतर्व्यथा......?

अपने जीवन-साथियों से बिछुड़कर तुम आज विश्व को कौन-सा संदेश देने आए हो—मानव-भाग्य-निर्णायक !

तुम्हारे मूक नेत्रों में भरे उपेक्षा के भाव तुम्हारी विषम अंतर्वेदना के साक्षी हैं। अतीत की सुखद स्मृतियां

के प्रति तुम्हारे हृदय की हूक उनमें रह-रहकर झलक रही है।

आज तुम्हारी वह मधुर मुस्कान कहाँ गई—हे एकाकी! कहीं घर का मार्ग भूलकर तो इस बिहान में नहीं भटक रहे हो?

किंतु,

तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि जिस मार्ग पर तुम चल पड़े हो, उस पर चलनेवालों को संसार 'पागल' कहता है, उनके प्रति उसके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं।

व्यर्थ में क्यों अपना उपहास कराते हो—प्रिय! अपने असंतोष को हृदय में ही दबाए घर लौट जाओ। कहीं यह सृष्टि की उदासीनता तुम्हारे जीवन को और भी नीरस न बना दे......?

तुम्हारे शोक में चंद्रदेव का भी मुख-मंडल कांति-विहीन हो गया है। उनके करुणार्द्र नेत्रों से जो समवेदना के अश्रु-कण ढुलक पड़े हैं, उन्हें पादप-पुंज अपने कोमल करों में लेकर विश्व की क्षण-भंगुरता की भेंट चढ़ा रहे हैं।

परंतु, इनमें जीवन की कितनी अनुभूतियाँ—कितने सुप्त उद्गार भरे पड़े हैं, यह कौन जाने? इस जीवन में अंतर्वेदना का मूल्य ही क्या......?

प्रिय ! जीवन की किस अज्ञात अभिलाषा की याद से सिहर-सिहरकर चिहुँक उठते हो, निराश नेत्रों में एक मूक प्रार्थना-सी लिए, इस जग की ओर, टुकुर-टुकुर झाँक रहे हो।

मानव को तो तुम्हारे इस जीवन में विस्मय और कौतूहल के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता—इसके पार उसने देखने का प्रयत्न भी कब किया है ?

निर्मम ! निर्बल का यहाँ अस्तित्व ही कितना ..... ?

तुम इस विहान में अकेले ही निकल पड़े हो। अभी उषा राक्षसी, अल्हड़पन के साथ विहँसती हुई, यहाँ आएगी, और समस्त आकाश को रक्त-रंजित कर देगी। वह देखते-देखते तुम्हारा भी अस्तित्व मिटा डालेगी।

सृष्टि की इस क्रूरता में क्यों अपना 'अपनत्व' खोते हैं—अपनी व्यथा को हृदय में ही छिपाए चले जाओ...... ?

जीवन के इस कठोरतम सत्य से क्यों खिलवाड़ करते हो—पागल !

घुल-घुलकर मरना भी जीवन का अपना एक निजी प्रायश्चित्त है।

हा ! हंत...... !

मसूरी
ता० १८ जून, १९४०

बाईस

पतझड़ का पेड़

गर्मी की दोपहर में—

जब कि आकाश ठसाठस तेज़ धूप से भरा हुआ है, समस्त संसार आग-सी वर्षा से तप्त हो रहा है......

तुम एक तपस्वी की भाँति शांत-मौन हो, खड़े हो। तुम्हारी वह सरसता, वह सौंदर्य कहाँ गया ?

कहो भी—तुम्हें आज किस निर्मम ने लूटा है ? तुम्हारे हृदय में कौन-सी ऐसी अज्ञात वेदना है .....?

तुम्हारे सूखे ओठों पर विषाद की छाप है।

तुम्हारे नयनों में आर्द्र-सा कुछ जमा हुआ है—वह जीवन की इस ताप से पिघलकर छलका ही चाहता है।

ऐसा न हो, पादप ! यह छलककर तुम्हारे जीवन के सब रहस्य को इस निष्ठुर विश्व के सामने रख देगा। इसके बदले में तुम जानते हो कि तुम्हें क्या मिलेगा ? उपेक्षा और उपहास......?

आज तुम्हारे गर्म उच्छ्वासों के साथ तुम्हारे कुचले अरमानों की राख उड़ रही है।

किंतु,

मानव यह देखकर आँखें बंद कर लेता है। उसके शुष्क हृदय में किसी की पीड़ा के प्रति सहानुभूति होने भी क्यों लगी? वह तुम्हारा मौन संदेश अपनी आँखों तक क्यों पहुँचने देगा?

परंतु जब तुम्हारे ये गर्म उच्छ्वास एकत्र होकर किसी दिन संसार को फूँक देंगे, तब मानव को किसी की उपेक्षा का परिणाम विदित होगा।

तुम्हें अपने यौवन के वे दिन भी स्मरण होंगे?

जब कि तुम्हारा घर शुकों से परिपूर्ण था, पक्षियों के कलरव से तुम्हारा जीवन मुखरित था, श्रांत पथिक चलने से ऊबकर तुम्हारी शीतल छाया में आश्रय पाता था।

परंतु आज,

तुम्हारा तन जर्जरित हो गया है, कोटरें सूनी पड़ी हैं। कभी-कभी कोई भूला हुआ गिद्ध या चील आ बैठती है।

अन्यथा,

पक्षी अभिलाषा से आता है, और लौट जाता है। उसकी निराशा से तुम्हें कितनी पीड़ा होती होगी, यह तुम्हीं जानो......

श्रांत पथिक जब धूप से व्याकुल होकर तुम्हारी शीतल छाया की आशा में आता होगा, और निराश होकर लौट जाता होगा, उस समय तुम्हारे हृदय में अतीत की स्मृति से एक भीषण कसक—एक तीव्र हूक-सी उठती होगी। तुम अपनी बेबसी में बँधे सस्मित नेत्रों से उसके पैरों की ओर देखते रह जाते हो—

तब,

क्या तुम्हें इस जग की निरर्थकता—अनुपम सौंदर्य और वैभव की क्षण-भंगुरता पर एक उदासीनता की हँसी न आती होगी...?

परंतु, यह स्वार्थी संसार अपने सुख में मस्त तुम्हारा यह करुण हास्य क्यों समझने लगा?

हे धैर्य के प्रतीक!

आज, तुम्हारे सब सहचर तुम्हें छोड़कर चले गए हैं।

जो सरिता तुम्हारा प्रक्षालन करती थी, वह भी हटकर चली जाती है। उसे अब तुम्हारी क्या चिंता? वह अपने कलकल और मधुर राग में मस्त है।

इस सूखे वातावरण में भूखे-से—मुरझाए केवल दो-चार पौधे, मार्तंड के अग्नि-बाणों से झुलसाए-से, तुम्हारे साथ अपना कटु जीवन काट रहे हैं। उनके हृदय में तुम्हारी व्यथा

के लिये अवश्य कुछ स्थान है—वरना दुर्दिनों में कौन किसका साथी होता है—पागल!

जब,

उषा विहँसती हुई प्रकृति-प्रांगण में आकर, सबको लाल ओढ़नी-सी उढ़ा देती है—तब तुम निर्वासित-से उसकी ओर झाँकते हो। वह तुमको देखकर अपने अरुण अंचल में मुँह छिपा लेती है।

और तुम,

भाव-पूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखते रह जाते हो। उस समय तुम क्या अनुभव करते होगे—निर्मम ?

इतना ही क्यों —

स्वप्नों का संसार और कोमल भावनाओं की मृदु खुमारी लिए—मृदुल ध्वनि करती—जब निशादेवी, रत्न-जटित साड़ी पहनकर आती है, और समस्त विश्व को अपने अंक में सुला लेती है—उस समय तुम अपने वैभव को याद करके चित्रवत् उसकी ओर टुकुर-टुकुर देखते हो...

वह तुम्हारी व्यथा पर कुछ अश्रु-कण छलकाकर चली जाती है।

और तुम,

इस प्रकार जीवन के ये कड़वे घूँट पीकर अपने दिन काटते

रहते हो—अपने मूक नेत्रों में 'क्यों...? कैसे...? किस ओर ..?' के प्रश्न लेकर कौतूहल की दृष्टि से निष्ठुर विश्व की ओर झाँकते रहते हो।

किंतु,

न-मालूम, मानव संसृति के किस युग में इन प्रश्नों को हल कर सकेगा—तुम्हारी उर में दबी पीड़ा को समझ सकेगा...?

मसूरी
ता० १६ जून, १६४०

तेईस

पर्वतीय प्रदेश में

आसमान से स्पर्धा किए हुए पहाड़, एक के बाद एक, मानव के मनसूबों की भाँति खड़े हुए हैं...

केवल अंतर है, तो इतना कि ये पाषाणों से निर्मित हैं, और मनुष्य के मनसूबे होते हैं बालू के बने।

इन विशाल पर्वतों के नीचे गहरी घाटियाँ हैं...मानव के चरम पतन की सीमा। इनमें गिरकर मानव का कहीं ठिकाना नहीं।

मनुष्य जब पहाड़ की एक चोटी पर खड़ा होकर नीचे घाटी की ओर देखता है, तो उसे कितना नीचा दीखता है—उसकी देखने की दृष्टि से भी बाहर गहरा...इस 'गहराई' में ही उसके चरम पतन की सीमा निहित है।

उसे अब उस 'गहराई' को देखकर भय मालूम देता है—

किंतु,

उस चोटी पर आने से पहले उसे वहाँ कुछ भी नहीं मालूम देता था। वह उसी में प्रसन्न था। भय के स्थान पर उसे उसमें सुख अनुभव होता था।

यह है जीवन का रहस्य, जिसे ये घाटियाँ प्रकट करती हैं। किंतु मानव ने इस 'गहराई' को कब अनुभव किया है...?

घाटियों में खड़े हरे-हरे वृक्ष—

जीवन और स्फूर्ति से पूर्ण—

अपने शाखा-रूपी करों को उठाकर किसी वस्तु को 'नीचे' गिरने से रोकते हैं—मानो ऐसे लगते हैं, जैसे मानव को इस बात की चुनौती दे रहे हों कि पतन जीवन का सबसे भीषण अभिशाप है। अपनी मौन भाषा में उसे नीचे गिरने से रोक रहे हैं।

ठीक ही तो है—क्यों पतन होने दें? किसी को क्यों नीचे गिरने दें? परंतु मनुष्य अपने जीवन के प्रवाह में बहता हुआ उनका यह सुंदर संदेश कब सुनता है..?

विशाल शैलों पर मनुष्य ऊँचा चढ़ता चला जाता है—किंतु, जब वह निगाह उठाकर ऊपर की ओर देखता है, तो उसे विदित होता है कि वह जहाँ खड़ा हुआ है—वह तो केवल इकाई है। उसे अपने चारों ओर, अपने अंतिम लक्ष्य की भाँति, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ दिखलाई पड़ते हैं—जहाँ कि उसे अभी पहुँचना शेष है।

किंतु,

इसकी उसे क्या चिंता?

वह तो केवल यही अनुमान लगाता रहा है कि मैं 'नीच'

से कितना 'ऊँचा' आ गया...? परंतु उस वास्तविक 'उँचाई' तक पहुँचने की उसका सामर्थ्य नहीं।

हो भी क्यों ?

वह जीवन में आराम चाहता है, किंतु जहाँ निरंतर चलना है, वहाँ आराम कहाँ ?

यह 'ऊँचा-नीचा' तो उसके जीवन-सूत्र के साथ बुना हुआ है, उसे वह इतनी शीघ्र समाप्त नहीं कर सकता।

पहाड़ों के भी हृदय होता है—

वे, न-मालूम, संसृति के किस युग से विश्व की कठोरता पर आँसू बहा रहे हैं, जिससे मानव-जीवन का एक विस्तृत, करुण इतिहास लिखा गया है।

इनमें भी सरसता है—इनके भी कलेजा है, जो फूट-फूट-कर बहता है।

इनकी अश्रु-धारा मानव के अश्रु-कणों की भाँति निरर्थक नहीं—

वरन्,

सृष्टि के जीवन में एक अनोखी सरलता ला देती है। उसके नीरस जीवन को सरस बना देती है।

यदि यह न होता, तो विश्व का जीवन कभी का शुष्क होकर खँडहर हो गया होता........

ये आँसू बहाते हैं विश्व के जीवन को सरस बनाने के लिये। मानव आँसू बहाता है, अपने जीवन की बेबसी को देखकर—अपने जावन को नीरस पाकर—अपने बंधनों से ऊबकर..........यही तो इनकी विशालता का अर्थ है।

प्रकृति के इस निर्जन प्रांत में, कहीं-कहीं, दो-चार सुमन विकसित होकर मानव को विकास का कितना सुंदर पाठ पढ़ाते हैं। वे इस प्रदेश के रूखेपन को कम करते हैं—तथा एकाकी जीवन का एक सुंदर उदाहरण मानव के सामने रखते हैं।

उनके जीवन का विकास इसलिये नहीं कि मानव उन्हें तोड़कर अपने देवता को भेंट चढ़ावे, उनकी मनोरम सुरभि से अपनी वासना की तृप्ति करे।

उनका विकास मानव के इस 'उपयोग' में नहीं—

वरन् विकास तो विकास है...

इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि मानव अपने स्वार्थमय नेत्रों से उनका 'फूलना' देखे ही। वे अपने जीवन में फूलते हैं—इसलिये कि 'फूलना' उनका स्वाभाविक धर्म है। अब उन्हें कोई देखे या न देखे। इससे उनके फूलने में कोई अंतर नहीं आ सकता।

वे फूलते हैं अपने निर्माता की अभिव्यक्ति के लिये—

और,

अपनी सुरभि में अपने 'अपनत्व' को खोकर स्वयं उसमें ही पुनः लय हो जाते हैं।

वास्तव में, यह है जीवन के विकास का अर्थ—किंतु मानव इसे कब स्वीकार करने लगा...?

पहाड़ों से निकलती छोटी-छोटी सरिताएँ अपने जीवन में, किस वेग से, झर-झर और कल-कल करती जाती हैं? उनके इस भोले जीवन में कितनी स्वाभाविकता, कितना आवेश होता है—यह कौन जाने . ?

वे चट्टानों को चूर-चूर करती, किनारों को इधर-उधर काटती, अपना मार्ग बनाती, कितनी तीव्रता से जाती हैं? यह आवेश, इतनी क्षमता, अनेक बंधनों से जकड़े, मानव को अपने जीवन में कहाँ प्राप्त ?

उनका यह भोला शिशुपन होता है—सृष्टि के समस्त विकारों से शून्य।

उन छोटी, किंतु शक्ति-पूर्ण सरिताओं के जीवन में केवल उल्लास के अतिरिक्त, मानव की भाँति, सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि नहीं।

सीधा-सरल जीवन—तभी तो इतना वेग... ?

इन पहाड़ों पर चलने के लिये मनुष्य राजमार्ग पर चलना चाहता है—किंतु यह उसका संकोच है।

जिस पर बहुत चल चुके हैं—उस पर चलने से क्या ?

चलना तो उसका है, जहाँ में अभी कोई न गुजरा हो। वह राजमार्ग से हटकर अपना मार्ग ढूँढ़ेगा...जीवन का आनंद भी तो इसमें है।

वास्तव में, एक सच्चे साधक का मार्ग भी वही है। वह राजमार्ग पर चलना पसंद न करेगा। करे भी क्यों ? इसमें उसके जीवन की विशेषता भी क्या रही ?

एक बात और भी—

संध्या की इस सुनहली छाया में—

जब कोई पहाड़ी बालिका, अपने रंगीन स्वप्नों में रंग भरती हुई, तथा प्रेम का एक गीला राग अलापती हुई, अपनी बकरियों को लिए घर लौटती है —

तो,

बकरियों के गले में बँधी क्षुद्र घंटियों की मधुर झनकार, यहाँ की नीरवता में एक मृदु संगीत—एक अनोखा जीवन भर देती है।

उस युवती के हृत्तंत्री के तारों को झंकृत करके, उनकी मधुर ध्वनि में मिलकर एकाकार हो जाती है।

उस समय, मानव की कृत्रिमता से परे, इस निर्जन का स्वाभाविक जीवन कितना मुखरित हो पड़ता है ?

जीवन की विषमताओं की भाँति इन पर्वत-शृंखलाओं को पार करके जब मनुष्य अपने घर आता है, तो उसे मानो ऐसा लगता है कि न-मालूम वह किस स्वप्न-लोक की सैर करके आया हो...

जिसकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया हो—

जिसे जीवन में उपेक्षा तथा असम्मान के अतिरिक्त कुछ न मिला हो—

तथा,

जिसके निर्मल प्रेम के साथ संसार ने सहानुभूति न दिखाई हो......

ऐसे मानव के जीवन की भाँति,

लंबी पगडंडियों के सहारे वह, न-मालूम, कितनी बार नीचे गया, कितनी बार ऊँचे चढ़ा, कितने :विशाल पर्वत पार किए—मार्ग में कितने झरने मिले—कहाँ-कहाँ, उसने चलने से ऊबकर, विश्राम किया...?

ये सब उसे स्वप्न की-सी बातें लगती हैं।

हाँ, जो स्वयं एक स्वप्न है, उसके लिये प्रत्येक वस्तु क्यों न स्वप्नवत् हो...?

मसूरी
ता० २० जून, १६४०

चौबीस

शैल-शिखर

पर्वत थे—मानव की आशाओं की भाँति बहुत ऊँचे।

ऊँचे ही न, कुछ और भी...।

चाहे और कुछ हों अथवा न हों—किंतु ऊँचे तो वे थे ही—अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये।

उनका 'शैलत्व' ही इसी ऊँचेपन में है।

यदि वे ऊँचे न हों, तो उन्हें पर्वत, पहाड़ शैल-शिखर कौन कहने लगा? फिर, उन्हें कोई धूल के कण, पाषाणों के टुकड़े क्यों न कहे...

किंतु, इतना-भर ही तो उन्हें धूल के कणों से 'पर्वत' संज्ञा का अधिकारी नहीं बना देता?

एक बात और भी—

वे पाषाणों के टुकड़े परस्पर बिखरे नहीं—वरन्, एक दूसरे का सहारा—अविच्छिन्न सहारा, लेकर खड़े हुए हैं।

इसी से तो उन्हें 'उच्चपन' का श्रेय मिला है। नहीं भला, अलग-अलग हों, तो धूल के कणों की भाँति बिखर न पड़ें?

तो यह तय रहा कि वे पर्वत थे—

संभव है, आपको 'पर्वत' शब्द उनके आंतरिक तत्त्व पाषाणों की भाँति कठोर प्रतीत हो—तो आप मुलायम शब्दों में कहिएगा कि वे 'शैल-शृंखलाएँ' थीं......

जैसे को तैसा कहना कुछ बुरा लगता है।

मानव ने देखा कि वे पर्वत एक मार्ग-बाधा-सी, ढेर-से पड़े, कुछ लाभ के भी हैं? वह उनमें अपने स्वार्थ के लिये स्थान ढूँढ़ने लगा। भला, बिना 'उपयोग' की वस्तु को वह कैसे सहन कर सकता है?

वह तो उपयोग चाहता है—उपयोग।

किंतु,

यह कर तो वह अपनी शक्ति-भर ही सकता है। उसकी सीमा से आगे—प्रकृति का अपना मनोरम स्वरूप........ ज्यों-का-त्यों।

वह आया, उपयोग के साधनों को अपने हाथ में लिए।

उसे उनमें पहलेपहल कुछ सौम्यता दिखाई दी। वह उनकी विमल सुंदरता पर रीझकर कुछ ठिठक गया। उसे उनसे निकलती, कलकल करती निर्झरिणी मिली—हरे-हरे वृक्ष मिले।

और ....?

और, वही जाने उसे वहाँ क्या मिला? किंतु, उसे सुंदर लगा अवश्य।

वह सोचने लगा............भावुक था—हृदयवाला मनुष्य।

'प्रकृति का शुद्ध सौंदर्य नष्ट किए बिना क्या मेरा कार्य न चलेगा ?'—उसके सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ।

किंतु,

उसे याद आया—खाने को चाहिए।

उसे याद आया—लकड़ियाँ चाहिए।

उसे याद आया—मानव की कृत्रिमता को आश्रय देने के लिये पत्थर चाहिए।

उसने उन पर खेत बनाए—लकड़ियाँ काटीं—और......?

वही, जो वह अपनी शक्ति-भर कर सकता था। किंतु, इसका फल......?

उसका स्वार्थ सुंदर बन गया। उसके बनाए खेत सीढ़ियाँ-सी प्रतीत होने लगीं। उन्होंने उन पर्वतों में एक नवीन सुंदरता जोड़ दी।

वह प्रकृति का सौंदर्य नष्ट न कर सका। परंतु, वह प्रसन्न हुआ—वह इसलिये कि उसका स्वार्थ पूर्ण हो गया।

इतने से प्रसन्न तो वह अवश्य हुआ, किंतु तृप्ति उसे न हुई। वह कुछ अधिक चाहता था—

'भला, देश की प्राकृतिक संपत्ति का वह पूर्ण उपयोग क्यों न करे...?'

उसने पत्थर निकालने आरंभ किए—पूर्ण शक्ति के साथ।

परंतु, इससे क्या वह अपने मंतव्य में सफल हो सका? यह वही जाने...

इतना अवश्य सत्य है कि वह जीवन-भर पत्थर निकालते ही तो संतुष्ट नहीं हो सकता।

उसको मनोरंजन चाहिए—भावों के उत्थान को आश्रय चाहिए—और चाहिए विचरण के लिये क्षेत्र।

यह सब अपने शुद्ध रूप में कहाँ...?

उसे प्रेरणा मिली—प्रकृति में ही तो?

वह गया...

वहाँ गया, जहाँ वह अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सका था—और, प्रकृति से जीवन तथा स्फूर्ति प्राप्त की।

वह अपनी पराजय पर हँस पड़ा।

एक बात और भी...

उसे पगडंडियों के सहारे चलना अच्छा नहीं लगता। उसे तो सड़क पसंद है—पगडंडियाँ नहीं।

करे भी क्यों?

जब वह सड़क बना सकता है, उसे उन पगडंडियों पर चलने में मिलेगा भी क्या ? वह पैदल क्यों चलने लगा . ?

किंतु,

उसकी यह कृत्रिमता सीमित ही तो है। प्रकृति के विस्तीर्ण क्षेत्र पर विजय प्राप्त करना उसकी शक्ति के बाहर है।

उसकी 'सड़क' से आगे उस मनोरम प्रदेश की सैर उसके लिये एक रहस्यमय आकर्षण होगी। वह अपने उपयोग के सिद्धांत को प्रकृति की स्वाभाविकता की भेंट चढ़ा संसृति के जीवन-भर, अपनी बेकसी पर, आँसू बहाता रहेगा।

इतना ही क्यों...?

सभी तरह के व्यक्ति हैं—सब अपना-अपना उपयोग चाहते हैं।

दार्शनिक को उनमें शांति मिलेगी—अपनी आध्यात्मिक शक्ति के विकास के लिये एक क्षेत्र।

कवि .. ?

वह इन दोनो के उपयोग से संतुष्ट न होगा। उसे उनमें मिलेगा अपूर्व सौंदर्य—जीवन-स्फूर्ति। वह तो यही चाहेगा कि उनका कार्य खड़े होने का है—फिर, उन्हें क्यों न खड़े रहने दिया जाय ? वे अपना उपयोग मानव को स्वयं समझा देंगे...

सहस्रधारा
ता० २१ जून, १९३८

पच्चीस

आँसुओं का आह्वान

वीणे !

हृदय अब रोते-रोते थक-सा गया है।

अंतर्वेदना अश्रु-कण बनकर नेत्रों में जम गई है, जो अब पिघलकर इस निष्ठुर विश्व में अपना अस्तित्व नहीं खोना चाहती।

इस निराश जीवन में भरी अपनी उपेक्षा तेरे एक आह्वान की मूक प्रार्थना-सी कर रही है—

हृदय में उमड़े विषाद के बादल अब बरसना नहीं चाहते—बल्कि, आज ये अपनी बेबसी पर घोर गर्जन करना चाहते हैं, एक वह अट्टहास चाहते हैं, जिसकी कठोर ध्वनि मानव के अंतर् में जाकर टकराए।

आ ! वीणे ! वही प्रलय-रागिनी सुना।

जिससे हृदयों में एक हूक-सी उठे—

सोई हुई व्यथाएँ जाग पड़ें—

स्मृतियों की कसक से जग के सब बंधन टूट जायँ।

तब, तेरी यह उन्मत्त साधना सफल होगी—वीणे !

आज,

मेरी अंतर्वेदना के साथ तेरे एक-एक तार से वह झनकार निकले कि विश्व में एक क्रांति पैदा हो जाय—

सूर्य ठंडा हो जाय ..

चंद्र आग बरसाने लगे...

सितारे आग के अंगारे बनकर पृथ्वी पर टूट पड़ें...

समुद्र में एक बृहद् तूफ़ान आ जावे...

नदियाँ बाढ़ से उमड़-उमड़कर मानव के मधुर स्वप्नों को बहा ले जायँ...

तब, मानव को मेरे कुचले अरमानों के इस झंझावात का अर्थ विदित होगा—वीणे ! तभी मेरा यह अनुष्ठान सिद्ध होगा।

वीणे ! मैं अपने अपनत्व को तुममें खोकर जीवन की विस्मृति वह रागिनी अलापना चाहता हूँ, जिसकी एक-एक ध्वनि, इस विश्व में, एक लहर-सी उठा दे।

एक-एक झनकार से यह जग थर-थर काँप जाय।

और,

उस समय मैं और तुम मिलकर एक हो जायँ, और एक हो जाय यह संसार !

बस, एक मैं हूँ—तुम हो, और हो मेरा राग।

तभी, मेरा यह अश्रुओं का गान संसृति के जीवन में गूँजेगा—न-मालूम किस युग तक...?

आज,

तेरी वह रागिनी—

विश्व की काल बन जाय—वीरों की हुंकारों से नभस्थल थहरा जाय—भावनाएँ तलवारों पर नाचने लगें, चारो ओर धुआँधार-सा मच जाय—ओले पड़ें—बिजलियाँ गिरें—बादल कड़क-कड़ककर आपस में लड़ जायँ...

मेरा हृदय, तभी शांत होगा—वीणे!

अब,

मुझे अपनी उदासीनता विश्व के कण-कण में दृष्टिगोचर होती है।

इस निष्ठुर विश्व ने कभी मेरे आँसुओं के प्रति सहानुभूति नहीं दिखाई, आज उन अश्रुओं ने मेरे हृदय में संचित होकर एक भीषण क्रांति कर रक्खी है।

उसी का प्रतिबिंब तो मैं इस विश्व में देखना चाहता हूँ। मैं अपने अंतर् को इस विश्व के सम्मुख रखना चाहता हूँ—तभी तो बाहर-भीतर का यह भेद विश्व को विदित होगा—वीणे!

जिसके लंबे व्यवधान को तय करने में, न-मालूम, कितनी भावनाएँ हृदय ही में सिसक-सिसककर रह जाती हैं—

कितने मेरे मधुर स्वप्न उस बाहर-भीतर के अंतर में समा गए हैं—यह कौन जाने... ?

आज मेरी वही वेदना यदि प्रतिहिंसा का सहारा लेकर फूट निकले, तो इसमें अस्वाभाविकता ही क्या ?

वीणे ! ये हृदय के आँसू मानव को यह बता देना चाहते हैं कि ये पिघलकर बहना ही नहीं जानते, वरन् इनके पीछे एक अपार शक्ति भी है—जो विश्व में एक तहलका मचा सकती है।

अश्रुओं की इस शक्ति ने, न-मालूम, कितनी बार जीवन के अज्ञात क्षणों में फूटकर इस विश्व में एक उथल-पुथल कर डाली है।

परंतु,

मानव यह भूल जाता है—तभी तो पुनः आह्वान करने की आवश्यकता पड़ जाती है।

क्या यह आँसुओं का आह्वान सफल न होगा—क्या वह चिर-परिचित राग तेरे अंतर् से न निकलेगा—वीणे...!

मसूरी
ता० २२ जून, १९४०